अभेद्य वेद
आचार्य अग्निव्रत

ओ३म्

अभेद्य वेद

लेखक

आचार्य अग्निव्रत

प्रमुख, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास, भीनमाल

सम्पादक

डॉ. मधुलिका आर्या एवं विशाल आर्य

उपप्राचार्या एवं प्राचार्य, वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान

द वेद साइंस पब्लिकेशन

भीनमाल (राज.)

भूमिका

सभी वेदानुरागी महानुभावो! जैसाकि आपको विदित है कि मैंने विगत श्रावणी पर्व वि.सं. २०८० तदनुसार 30 जुलाई 2023 को सभी वेदविरोधियों का आह्वान किया था कि वे 31 दिसम्बर 2023 तक वेदादि शास्त्रों पर जो भी आक्षेप करना चाहें, कर सकते हैं। हमने इस घोषणा का पर्याप्त प्रचार किया और करवाया भी था। इस पर हमें कुल 134 पृष्ठ के आक्षेप प्राप्त हुए हैं। इन आक्षेपों को हमने अपने एक पत्र के साथ देश के शंकराचार्यों के अतिरिक्त पौराणिक जगत् के महा-मण्डलेश्वर श्री स्वामी गोविन्द गिरि, श्री स्वामी रामभद्राचार्य, श्री स्वामी चिदानन्द सरस्वती आदि कई विद्वानों को भेजा था।

इसके साथ हमने आर्यसमाज की विभिन्न शीर्ष संस्थाओं तथा सभी प्रसिद्ध आर्य विद्वानों को भी ये आक्षेप भेजकर यह निवेदन किया था कि ऋषि दयानन्द के 200वें जन्मोत्सव फाल्गुन कृष्ण पक्ष दशमी वि.सं. २०८० तदनुसार 5 मार्च 2024 तक जिन आक्षेपों का उत्तर दिया जा सकता है, लिखकर हमें भेजने का कष्ट करें। उस उत्तर को हम अपने स्तर से प्रकाशित और प्रचारित करेंगे। यद्यपि मुझे ही सब प्रश्नों के उत्तर देने चाहिए, परन्तु मैंने विचार किया कि इन आक्षेपों का उत्तर देने का श्रेय मुझे ही क्यों मिले और वेदविरोधियों को यह भी न लगे कि आर्यसमाज में एक ही विद्वान् है, जो उत्तर देने के लिए सामने आया है। इसके साथ मैंने यह भी विचार किया कि मेरे उत्तर देने के पश्चात् कोई विद्वान् यह न कहे कि हमें उत्तर देने का अवसर नहीं मिला, यदि हमें अवसर मिलता, तो हम और भी अच्छा उत्तर देते।

दुर्भाग्य की बात यह है कि निर्धारित समय के पूर्ण होने के पश्चात्

तक कहीं से कोई भी उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। बड़े-बड़े शंकराचार्य, महा-मण्डलेश्वर, महापण्डित, गुरुपरम्परा से पढ़े महावैयाकरण, दार्शनिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय वैदिक प्रवक्ता, योगी एवं वेद विज्ञान अन्वेषक आदि में से कोई एक प्रश्न का भी उत्तर नहीं दे पाया अथवा उन्हें वेद पर किये जाने वाले आक्षेपों से कोई पीड़ा नहीं हुई। कोई भी कारण हो, यह तो निश्चित हो ही गया कि ये आक्षेप वा प्रश्न सामान्य नहीं हैं। आक्षेपकर्त्ताओं ने पौराणिक तथा आर्यसमाजी दोनों के ही भाष्यों को आधार बनाकर गम्भीर व घृणित आक्षेप किये हैं। उन्होंने गायत्री परिवार को भी अपना निशाना बनाया है, परन्तु सभी मौन बैठे हैं, लेकिन मैं मौन नहीं रह सकता। इस कारण इन आक्षेपों का उत्तर देना मैं अपना ही कर्त्तव्य समझ रहा हूँ।

मैंने जो उत्तर दिए हैं, उनको कोई भी वैदिक विद्वान्, जो आज मौन बैठे हैं, नैतिक रूप से गलत कहने के अधिकारी नहीं रह पायेंगे। वे मेरे उत्तरों और वेदमन्त्रों के भाष्यों पर नुक्ताचीनी करने के अधिकारी भी नहीं रहेंगे। आज धर्म और अधर्म का युद्ध हो रहा है, उसका मूकदर्शक सच्चा वेदभक्त नहीं कहला सकता। मैंने चुनौती स्वीकारी तो है, उनकी भाँति मौन तो नहीं बैठा। वेद पर किये गये आक्षेपों पर मौन रहना भी उन आक्षेपों का मौन समर्थन करना ही है। यद्यपि मैं बहुत व्यस्त रहता हूँ, पुनरपि मैंने उत्तर देना अनिवार्य समझा है। मैं सभी उत्तरदायी महानुभावों से दिनकर जी के शब्दों में यह अवश्य कहना चाहूँगा—

'जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध'

मनुष्य इस संसार का सबसे विचारशील प्राणी है। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में जहाँ भी कोई विचारशील प्राणी रहते हैं, वे भी सभी मनुष्य

ही कहे जायेंगे। यूँ तो ज्ञान प्रत्येक जीवधारी का एक प्रमुख लक्षण है। ज्ञान से ही किसी की चेतना का प्रकाशन होता है, सूक्ष्म जीवाणुओं से लेकर हम मनुष्यों तक सभी प्राणी जीवनयापन के क्रियाकलापों में भी अपने ज्ञान और विचार का प्रयोग करते ही हैं। जीवन-मरण, भूख-प्यास, गमनागमन, सन्तति-जनन, भय, निद्रा और जागरण आदि सबके पीछे भी ज्ञान और विचार का सहयोग रहता ही है, तब महर्षि यास्क ने 'मत्वा कर्माणि सीव्यतीति मनुष्यः' कहकर मनुष्य को परिभाषित क्यों किया?

इसके लिए ऋषि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत आर्यसमाज के पाँचवें नियम 'सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए' पर विचार करना आवश्यक है। विचार करना और सत्य-असत्य पर विचार करना इन दोनों में बहुत भेद है, जो हमें पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों से पृथक् करता है। विचार वे भी करते हैं, परन्तु उनका विचार केवल जीवनयापन की क्रियाओं तक सीमित रहता है। इधर सत्य और असत्य पर विचार जीवनयापन करने की सीमा से बाहर भी ले जाकर परोपकार में प्रवृत्त करके मोक्ष तक की यात्रा करा सकता है।

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि जीवनयापन के विचार तक सीमित रहने वाले प्राणी जन्म से ही आवश्यक स्वाभाविक ज्ञान प्राप्त किये हुए होते हैं, परन्तु मनुष्य जैसा सर्वाधिक बुद्धिमान् प्राणी पशु-पक्षियों की अपेक्षा न्यूनतर ज्ञान लेकर जन्म लेता है। वह अपने परिवेश और समाज से सीखता है। इस कारण केवल मनुष्य के लिए ही समाज तथा शिक्षण-संस्थानों की आवश्यकता होती है। इनके अभाव में मनुष्य पशु-पक्षियों को देखकर उन जैसा ही बन जाता है। हाँ, उनकी भाँति उड़ने जैसी क्रियाएँ नहीं कर सकता।

समाज और शिक्षा के अभाव में मनुष्य मानवीय भाषा और ज्ञान दोनों की ही दृष्टि से पूर्णतः वंचित रह जाता है। यदि उसे पशु-पक्षियों को भी न देखने दिया जाये, तब उसके आहार-विहार में भी कठिनाई आ सकती है। इसके विपरीत करोड़ों वर्षों से हमारे साथ रह रहे गाय-भैंस, घोड़ा आदि प्राणी हमारा एक भी व्यवहार नहीं सीख पाते। हाँ, वे अपने स्वामी की भाषा और संकेतों को कुछ समझकर तदनुकूल खान-पान आदि व्यवहार अवश्य कर लेते हैं। इस कारण कुछ पशु यत्किंचित् प्रशिक्षित भी किये जा सकते हैं, परन्तु मनुष्य की भाँति उन्हें शिक्षित, सुसंस्कृत, सभ्य एवं विद्वान् नहीं बनाया जा सकता। यही हममें और उनमें अन्तर है। अब प्रश्न यह उठता है कि जो मनुष्य जन्म लेते समय पशु-पक्षियों की अपेक्षा मूर्ख होता है, जीवनयापन में भी सक्षम नहीं होता, वह सबसे अधिक विद्वान्, सभ्य व सुशिक्षित कैसे हो जाता है?

जब मनुष्य की प्रथम पीढ़ी इस पृथिवी पर जन्मी होगी, तब उसने अपने चारों ओर पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों को ही देखा होगा, तब यदि वह पीढ़ी उनसे कुछ सीखती, तो उन्हीं के जैसा व्यवहार करती और उनकी सन्तान भी उनसे वैसे ही व्यवहार सीखती। आज तक भी हम पशुओं जैसे ही रहते, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। हमने विज्ञान की ऊँचाइयों को भी छूआ। वैदिक काल में हमारे पूर्वज नाना लोक-लोकान्तरों की यात्रा भी करते थे। कला, संगीत, साहित्य आदि के क्षेत्र में भी मनुष्य का चरमोत्कर्ष हुआ, परन्तु पशु-पक्षी अपनी उछल-कूद से आगे बढ़कर कुछ भी नहीं सीख पाए। मनुष्य को ऐसा अवसर कैसे प्राप्त हो गया? उसने किसकी संगति से यह सब सीखा?

इन प्रश्नों के विषय में कोई भी नास्तिक कुछ भी विचार नहीं करता। वह इसके लिए विकासवाद की कल्पनाओं का आश्रय लेता देखा जाता

है। यदि विकास से ही सब कुछ सम्भव हो जाता, तब तो पशु-पक्षी भी अब तक वैज्ञानिक बन गये होते, क्योंकि उनका जन्म तो हमसे भी पूर्व में हुआ था। इस कारण उनको विकसित होने के लिए हमारी अपेक्षा अधिक समय ही मिला है। इसके साथ ही यदि विकास से ही सब कुछ स्वतः सिद्ध हो जाता, तो मनुष्य के लिए भी किसी प्रकार के विद्यालय और समाज की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु ऐसा नहीं है।

नास्तिकों को इस बात पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि मनुष्य में भाषा और ज्ञान का विकास कहाँ से हुआ? इस विषय में विस्तार से जानने के लिए मेरा ग्रन्थ 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' अवश्य पठनीय है, जिससे यह सिद्ध होता है कि प्रथम पीढ़ी के चार सर्वाधिक समर्थ ऋषि अग्नि, वायु, आदित्य एवं अंगिरा ने ब्रह्माण्ड से उन ध्वनियों को अपने आत्मा और अन्तःकरण से सुना, जो ब्रह्माण्ड में परा और पश्यन्ती रूप में विद्यमान थीं। उन ध्वनियों को ही वेदमन्त्र कहा गया। उन वेदमन्त्रों का अर्थ बताने वाला ईश्वर के अतिरिक्त और कोई भी नहीं था।

दूसरे मनुष्य तो इन ध्वनियों को ब्रह्माण्ड से ग्रहण करने में भी समर्थ नहीं थे, भले ही उनका प्रातिभ ज्ञान एवं ऋतम्भरा ऋषि स्तर की थी। सृष्टि के आदि में सभी मनुष्य ऋषि कोटि के ब्राह्मण वर्ण के ही थे, अन्य कोई वर्ण भूमण्डल में नहीं था। उन चार ऋषियों को समाधि अवस्था में ईश्वर ने ही उन मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान दिया। उन चारों ने मिलकर महर्षि ब्रह्मा को चारों वेदों का ज्ञान दिया और महर्षि ब्रह्मा से फिर ज्ञान की परम्परा सभी मनुष्यों तक पहुँचती चली गई। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की इन ध्वनियों से ही मनुष्य ने भाषा और ज्ञान दोनों ही सीखे। इस कारण मनुष्य नामक प्राणी सभी प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ बन गया।

ध्यातव्य है कि प्रथम पीढ़ी में जन्मे सभी मनुष्य मोक्ष से पुनरावृत्त होकर आते हैं। इसी कारण ये सभी ऋषि कोटि के ही होते हैं। ज्ञान की परम्परा किस प्रकार आगे बढ़ती गयी और मनुष्य की ऋतम्भरा कैसे धीरे-धीरे क्षीण होती गयी, मनुष्यों को वेदार्थ समझाने के लिए कैसे-कैसे ग्रन्थों की रचना आवश्यक होती चली गई और कैसा-कैसा साहित्य रचा गया, इसकी जानकारी के लिए मेरा 'वेदार्थ-विज्ञानम्' ग्रन्थ पठनीय है। जब मनुष्य में वेद को वेद से समझने की प्रज्ञा समाप्त वा न्यून हो जाती है, तभी उसके लिए किसी अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता होती है। धीरे-धीरे वेदार्थ में सहायक आर्ष ग्रन्थ भी मनुष्य के लिए दुरूह हो गये और आज तो स्थिति यह है कि वेद एवं आर्ष ग्रन्थों के प्रवक्ता भी इनके यथार्थ से अति दूर चले गये हैं। इस कारण वेद तो क्या, आर्ष ग्रन्थ भी कथित बुद्धिमान् मानव के लिए अबूझ पहेली बन गये हैं।

इस स्थिति से उबारने के लिए ऋषि दयानन्द सरस्वती और उनके महान् गुरु प्रज्ञाचक्षु श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु समयाभाव आदि परिस्थितियों के कारण ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य एवं अन्य ग्रन्थ वेद के रहस्यों को खोलने के लिए संकेतमात्र ही रह गये। वे वेद के यथार्थ को जानने के लिए सुमार्ग पर चलने वाले पथिक के रेत में बने हुए पदचिह्नों के समान थे। गन्तव्य की ओर गये हुए पदचिह्न किसी भी भ्रान्त पथिक के लिए महत्त्वपूर्ण सहायक होते हैं। दुर्भाग्य से ऋषि दयानन्द के अनुयायियों ने ऋषि के बनाये हुए कुछ पदचिह्नों को ही गन्तव्य समझ लिया और वेदार्थ को समझने के लिए उन्होंने कोई ठोस प्रयत्न नहीं किया। उनका यह कर्म महापुरुषों की प्रतिमाओं को ही परमात्मा मानने की भूल करने जैसा ही था।

इसका परिणाम यह हुआ कि ऋषि दयानन्द के अनुयायी विद्वान् भी

वेदादि शास्त्रों के भाष्य करने में आचार्य सायण आदि के सरल प्रतीत होने वाले परन्तु वास्तव में भ्रान्त भाष्य के अनुयायी बन गये। इसी कारण पौराणिक (कथित सनातनी) भाष्यकारों की भाँति आर्य विद्वानों के भाष्यों में भी अश्लीलता, पशुबलि, मांसाहार, नरबलि, छुआछूत आदि पाप विद्यमान हैं। यद्यपि उन्होंने शास्त्रों को इन पापों से मुक्त करने का पूर्ण प्रयास किया, परन्तु वे इसमें पूर्णतः सफल नहीं हो सके। इसी कारण इनके भाष्यों में सायण आदि आचार्यों के भाष्यों की अपेक्षा ये दोष कम मात्रा में विद्यमान हैं, परन्तु वेद और ऋषियों के ग्रन्थों में एक भी दोष का विद्यमान होना वेद के अपौरुषेयत्व और ऋषियों के ऋषित्व पर प्रश्नचिह्न खड़ा करने के लिए पर्याप्त होता है। इसलिए ऋषि दयानन्द के भाष्य के अतिरिक्त सभी भाष्य दोषपूर्ण और मिथ्या हैं।

हाँ, ऋषि दयानन्द के भाष्य भी सांकेतिक पदचिह्न मात्र होने के कारण सात्त्विक व तर्कसंगत व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। इसके लिए सब मनुष्यों को यह अति उचित है कि वे वेद के रहस्य को समझने के लिए 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ का गहन अध्ययन करें। जो विद्वान् वेद और ऋषियों की प्रज्ञा की गहराइयों में और अधिक उतरना चाहते हैं, उन्हें 'वेदविज्ञान-आलोकः' और 'वेदार्थ-विज्ञानम्' ग्रन्थ पढ़ने चाहिए। जो आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर रहे शिक्षक वा विद्यार्थी वेद का सामान्य परिचय चाहते हैं, उन्हें ऋषि दयानन्द कृत 'सत्यार्थ-प्रकाश' एवं 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और प्रिय विशाल आर्य कृत 'परिचय वैदिक भौतिकी' ग्रन्थ पढ़ने चाहिए।

आक्षेपों का समाधान करने से पूर्व हम यहाँ यह बताना चाहेंगे कि वेद भाष्यकारों ने वेदों के भाष्य करने में क्या-क्या भूलें की हैं। वेद की ईश्वरीयता एवं सर्वविज्ञानमयता को अच्छी प्रकार समझने के लिए

'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिए। जब तक वेद का सही स्वरूप समझ में नहीं आएगा, तब तक संसार का कोई भी वेद भाष्यकार वेद के साथ न्याय नहीं कर सकता। जब भाष्यकार ही वेद के साथ अन्याय कर देगा, तब उन भाष्यों को पढ़ने वाले पाठक भी निश्चित रूप से भ्रमित ही होंगे। जो पाठक भाष्यकार विद्वानों के प्रति विशेष श्रद्धा रखने वाले होंगे, वे दूषित भाष्य पढ़कर भी मौन बैठे रहेंगे।

जो पाठक जिज्ञासु प्रवृत्ति के होंगे, वे दूषित भाष्यों को पढ़कर वेदों से विरक्त हो जायेंगे अथवा जिज्ञासा भाव से वैदिक विद्वानों से समाधान कराने की इच्छा करेंगे, परन्तु जो पाठक पूर्वाग्रहग्रस्त होकर वेद के विरोधी होंगे अथवा अपने वेदविरुद्ध मजहब को वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहेंगे, वे वेद के दूषित भाष्यों को लेकर तीक्ष्ण व घृणित प्रहार करने का प्रयास करेंगे। ऐसे लोग अपने मजहबी ग्रन्थों के बड़े-बड़े दोषों को छुपाकर वेदभाष्यों के दोषों को उछालेंगे और जहाँ दोष नहीं भी हैं, वहाँ भी अपनी काकवृत्ति के कारण दोष निकालने का प्रयास करेंगे। संसार में इस समय तीनों प्रकार के लोग विद्यमान हैं। इनमें से मध्यम लोग ही निर्दोष हैं, अन्य दोनों ही प्रकार के लोग दोषी हैं।

भाष्यकारों को वेदभाष्य करते समय सबसे मौलिक बात यह समझनी चाहिए कि सर्वप्रथम वेद का वेद से ही अर्थ करने का प्रयास करना चाहिए। हम एक जीवहिंसा प्रकरण को ही यहाँ लेते हैं और इसके लिए वेद के कुछ प्रमाण यहाँ उद्धृत करते हैं—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामः॥ (अथर्व.1.16.4)

अर्थात् तू यदि हमारी गाय, घोड़ा वा मनुष्य को मारेगा, तो हम तुझे सीसे

से बेध देंगे।

मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः (अथर्व.11.2.1)
अर्थात् हमारे मनुष्यों और पशुओं को नष्ट मत कर। अन्यत्र वेद में देखें-

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम् (यजु.13.47)
अर्थात् इस दो खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम् (यजु.13.48)
अर्थात् इस एक खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।

यजमानस्य पशून् पाहि (यजु.1.1)
अर्थात् यजमान के पशुओं की रक्षा कर।

आप कहेंगे कि यह बात यजमान वा किसी मनुष्य विशेष के पालतू पशुओं की हो रही है, न कि हर प्राणी की। इस भ्रम के निवारणार्थ हम अन्य प्रमाण देते हैं—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे (यजु.36.18)
अर्थात् मैं सब प्राणियों को मित्र की भाँति देखता हूँ।

मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः (यजु.12.32)
अर्थात् इस शरीर से प्राणियों को मत मार।

मा स्त्रेधत (ऋ.7.32.9)
अर्थात् हिंसा मत करो।

यजुर्वेद 1.1 में गाय को अघ्न्या कहा है अर्थात् गाय सदैव अवध्य है। इन सब प्रमाणों के रहते अगर कोई भाष्यकार वेद में पशु-हिंसा, पशुबलि अथवा मांसाहार जैसे पापों का विधान करता है, तो वह भाष्यकारों का भारी अपराध है, न कि वेद पर आक्षेप करने वाले का।

कोई बुद्धिमान् व्यक्ति भी अपने ग्रन्थ में दो परस्पर विरुद्ध बातों को स्थान नहीं दे सकता, तब ईश्वरीय ग्रन्थ वेद में परस्पर विरोधी बातों का होना सम्भव नहीं है। इस कारण वेदभाष्य में जहाँ भी हिंसा और मांसाहार जैसे पाप दिखाई देते हों, तो वह भाष्यकार की बुद्धि का दोष है, न कि वेद का।

वेदभाष्यकार को दूसरी बात यह समझनी चाहिए कि जब वेद से वेद का अर्थ न सूझता हो, तो भाष्यकार को वैदिक पदों के यथार्थ विज्ञान को जानने के लिए वेद की विभिन्न शाखाओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं आरण्यकों में वैदिक पदों के निर्वचनों एवं आख्यानों के रहस्यों को समझने का प्रयास करना चाहिए।

हम उदाहरण के लिए यहाँ कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं। महर्षि जैमिनी ने कहा है—

पशवोऽयं (पृथिवी) लोकः (जै.ब्रा.1.307)

महर्षि तित्तिर ने कहा है—

प्राणाः पशवः (तै.सं.5.2.6.3)।

महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है—

प्राणो वै पशुः (श.ब्रा.3.8.4.5)

उधर मैत्रायणी संहिता में लिखा है—

पशवश्छन्दांसि (मै.सं.4.3.5)

और शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

पशवो वै सविता (श.ब्रा.3.2.3.11)

यहाँ पृथिवी, सूर्य, प्राण एवं छन्द रश्मि आदि पदार्थों को पशु कहा है, तब वेदभाष्य करने वाले को चाहिए कि वह वेद में पशु शब्द आते ही उसका अर्थ लोकप्रचलित पशु न करे। यदि वह ऐसा करता है, तो वह अपनी अज्ञानता वा मूर्खता का ही परिचय दे रहा है और इसके कारण कितने ही पाठक वेदविरोधी हो जाते हैं। इसका दोष भी भाष्यकार के सिर पर ही आता है।

अब हम 'गौः' पद के विषय में कुछ प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

अन्तरिक्षं गौः (ऐ.ब्रा.4.15), असौ (द्यौः) गौः (जै.ब्रा.2.439),
इयं (पृथिवी) वै गौः (काठ.सं.37.6),
प्राणो हि गौः (श.ब्रा.4.3.4.25), गौर्वै वाक् (मै.सं.4.2.3)।

यहाँ इन प्रमाणों को देखने से स्पष्ट होता है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोकों को भी वेद में गौ कहा गया है। इसी प्रकार वाक् तत्त्व एवं प्राण तत्त्व भी गौ कहे गये हैं। अब कोई वेदभाष्यकार किसी वेदमन्त्र में 'गौ' पद आते ही उसका अर्थ गाय नामक प्राणी कर दे, तो यह भाष्यकार की ही मूर्खता कही जायेगी।

अब हम 'अश्वः' पद पर विचार करते हैं—

असौ वा आदित्योऽश्वः (तै.ब्रा.3.9.23.2),
वज्रोऽश्वः (श.ब्रा.13.1.2.9), इन्द्रो वा अश्वः (कौ.ब्रा.15.4)।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वेद में अग्नि, सूर्य, तीक्ष्ण विद्युत् एवं वज्र रश्मियों को भी अश्व कहा गया है। ऐसी स्थिति में कोई वेद का अध्येता वेद में 'अश्वः' पद देखकर उसका अर्थ घोड़ा करने लगे, तो उसे अनाड़ी के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? इसी प्रकार

अनेकत्र गोमेध वा अश्वमेध यज्ञों की चर्चा सुनी जाती है। यहाँ 'मेधृ मेधाहिंसनयोः संगमे च' धातु का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यह धातु जानने, समझने, मार डालने, दुःख देने और संगति करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। तब कोई गोमेध वा अश्वमेध पदों से गाय अथवा घोड़े की बलि का विधान करे, तब उसे पूर्वाग्रही मांसाहारी क्यों न समझें?

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों को समझे बिना यदि कोई वेद का अर्थ करता है, तब वह वेद की वैसी ही दुर्गति करेगा, जैसी कोई बन्दर चाकू लेकर किसी रोगी की शल्यक्रिया करने लगे। दुर्भाग्य से आज ऐसे बन्दरों की कोई कमी नहीं है।

जब ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से भी वेदार्थ नहीं सूझता हो, तब भाष्यकार को चाहिए कि वह निरुक्त के निर्वचनों का उपयोग करे, क्योंकि निरुक्त वेद के पदों की व्याख्या को समझाने के लिए ही रचा गया महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो वेद के किसी भी अध्येता को वेद के पदों का रूढ़ अर्थ करने से बचाता है और उन पदों के महान् विज्ञान का उद्घाटन करता है। आज दुर्भाग्य की बात यह है कि जो ग्रन्थ वेद को रूढ़िवाद से निकालकर महान् विज्ञानवाद में ले जाता है, वही ग्रन्थ इसके सभी भाष्यकारों द्वारा रूढ़िवाद के गहरे गर्त में डाल दिया गया है। तब निरुक्त के ऐसे भाष्यों के आधार पर कोई वेद को कैसे समझ पाएगा? इसके लिए वेद के अध्येताओं को हमारा निरुक्त का वैज्ञानिक भाष्य 'वेदार्थ-विज्ञानम्' अवश्य पढ़ना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वेदभाष्यकार को व्याकरण के ज्ञान की भी कुछ आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में उसे धातु-प्रत्यय के आधार पर वैदिक पदों की व्युत्पत्ति करने का प्रयास करना चाहिए, परन्तु किसी

भी वैयाकरण को यह नहीं भूलना चाहिए कि एक ही धातु के अनेक प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में उसे किसी धातु के तर्कसंगत अर्थ की कल्पना करनी चाहिए और कोई प्रत्यय अनुकूल नहीं बन पा रहा हो, तो किसी नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार कहीं-कहीं नवीन धातुओं की कल्पना भी की जाती है, परन्तु यह सब कार्य कोई सत्त्वगुणसम्पन्न प्रातिभ ज्ञानयुक्त विद्वान् ही कर सकता है, अन्यथा उसकी कल्पना वेद को भी काल्पनिक और हास्यास्पद बना देगी।

यहाँ भाष्यकार वा वेद के अध्येता को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वेद व्याकरण के लिए नहीं है, बल्कि व्याकरण वेद के लिए है। लोक और वेद दोनों ही व्याकरण के अधीन नहीं हैं, बल्कि व्याकरण लोक और वेद दोनों के अधीन है। महर्षि पाणिनि आदि महावैयाकरणों ने वेद और लोक में प्रचलित पदों को नियमबद्ध करने का प्रयास किया, परन्तु वेद तो क्या लौकिक पदों को भी सम्पूर्ण रूप से नियमबद्ध नहीं किया जा सका। इसलिए वेद के लिए 'छन्दसि बहुलम्' का अनेकत्र प्रयोग किया और 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र का भी अपने ग्रन्थ में समावेश किया। लौकिक पदों को भी अनेकत्र शिष्टों का प्रयोग मानकर साधु माना। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' जैसे सूत्र की रचना की, तो अनेकत्र अनेक पदों को निपातन से व्युत्पन्न माना।

महर्षि ने गणपाठ में अनेक गणों को आकृतिगण मानकर उस गण में अनेक पदों को सम्मिलित करने का अवकाश रखकर यह स्पष्ट कर दिया कि उस समय लोक में प्रचलित पदों को भी व्याकरण के नियमों में पूर्ण रूप से नहीं बाँधा जा सकता। ऋषियों द्वारा इतनी स्पष्टता करने पर भी यदि कोई केवल प्रकृति एवं प्रत्यय के आधार पर वेदार्थ करने

की हठ करे, तो उसका वेदभाष्य पाठकों को भूलभुलैया में डालने वाला ही सिद्ध होगा।

दुर्भाग्य से वेद के अनेक अध्येता ब्राह्मण, आरण्यक, निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों को समझे बिना संस्कृत भाषा के सामान्य ज्ञान के आधार पर ही वेदार्थ करने बैठ जाते हैं, तब वे वेद की दुर्गति क्यों नहीं करेंगे? इनकी रही सही कमी वेद के अंग्रेजी आदि भाषाओं में किए गये अनुवाद पूर्ण कर देते हैं और वे अनुवादक वेद का सम्पूर्ण विनाश करते हुए भी वेद के भाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं। ऐसे ही भाष्यकारों व अंग्रेजी आदि भाषाओं में वेद के अनुवादकों के भाष्य वा अनुवाद को आधार बनाकर आक्षेपकर्त्ताओं ने वेदों पर अधिकांश आक्षेप किये हैं।

ऐसी स्थिति में अधिक दोषी तो भाष्यकार वा अनुवादक ही सिद्ध होते हैं। इतने पर भी कोई इन भाष्यकारों वा अनुवादकों के विरुद्ध मुख खोलने के लिए उद्यत नहीं है, क्योंकि वह उन्हें महान् विद्वान् मानता है और उनका कट्टर भक्त भी है। हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि ये भाष्यकार व अनुवादक अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने बहुत उपयोगी व महत्त्वपूर्ण अनेक ग्रन्थ लिखे, परन्तु वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ एवं निरुक्त जैसे जटिल ग्रन्थों पर कलम चलाकर उन्होंने भारी भूल कर दी। उनकी यह भूल वेद के लिए नासूर सिद्ध हो रही है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि वेदभाष्य प्रक्रिया के इन सभी चरणों की सफलता के लिए योगाभ्यास अति आवश्यक है और योगाभ्यास दिखावे के लिए आँख बन्द करने का नाम नहीं है और न योग पर बड़े-बड़े प्रवचन देने वा लेख वा ग्रन्थ लिखने का नाम ही योग है। योग यम व नियमों की भूमि से उत्पन्न होता है। आश्चर्य की बात है कि आज

मिथ्याभाषी, छली-कपटी, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों के भण्डार योग के प्रणेता बन रहे हैं और करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति के स्वामी श्रीमन्त बने हुए हैं। मांसाहारी व अण्डा-मछली खाकर अपने पेट को श्मशान बनाने वाले, शराबी व विषयलोलुप लोग मात्र कुछ शब्दज्ञान का आश्रय लेकर वेद के भाष्यकार बन रहे हैं, वहीं दूसरी ओर ईर्ष्या, अहंकार, द्वेष, काम व क्रोध आदि की अग्नि में झुलस रहे वाक्पटु लोग भी वेदों पर कलम चलाने का साहस करते वा योग की प्रेरणा देते देखे जाते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में वेद का सर्वनाश क्यों नहीं होगा? वस्तुतः यम व नियमों को सिद्ध किये बिना वेद वा धर्म वा विज्ञान का मर्म जाना ही नहीं जा सकता। इस कारण वेद के अध्येता को चाहिए कि वह सर्वप्रथम सत्य, अहिंसा व ब्रह्मचर्यादि व्रतों का सेवन करे और ईश्वरप्रणिधानपूर्णक जीवन जीने का प्रयास करे।

वेद को समझने की इस क्रमिक प्रक्रिया का इतना परिचय कराने के पश्चात् अब हम सर्वप्रथम वेदों पर किए गये कुछ गम्भीर आक्षेपों का क्रमशः उत्तर देना प्रारम्भ करते हैं। सर्वप्रथम हम वेदों पर उठाये गये आक्षेपों का उत्तर दे रहे हैं। उसमें भी सबसे अधिक प्रक्षेप 'वेद का भेद' वेबसाइट पर सुलेमान रजवी ने किये हैं। रजवी ने वेदों पर हिंसा एवं साम्प्रदायिकता का आरोप भी लगाया है।

इस पुस्तक का सम्पादन एवं ईक्ष्यवाचन प्रिय श्री विशाल आर्य एवं डॉ. मधुलिका आर्या ने बहुत ही योग्यता एवं मनोयोग के साथ किया है। इसके लिए मैं अपनी मानस सन्तान को भूरिशः आशीर्वाद देता हूँ। ईश्वर इन्हें उत्तम स्वास्थ्य एवं पावन यश प्रदान करे।

* * * * *

आक्षेप—

Vedas are terror manual which turns humans into savages. Many tribes were destroyed as a result of the violent passages in Vedas. As per Vedas, you must kill a person who rejects Vedas, who hates Vedas and Ishwar, who does not worship, who does not make offerings to ishwar, who insults god (Blasphemy), one who oppresses a Brahmin etc. There are several passages in Vedas which calls for death of disbelievers.

इनकी दृष्टि में वेद मनुष्य को बर्बर आतंकी बनाने वाला ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ ने अनेक जनजातियों को नष्ट कर दिया है। वेद और ईश्वर को न मानने वाले, ईश्वर की पूजा न करने वाले, ईश्वर की निन्दा करने वाले और ब्राह्मण का अपमान करने वाले को मार डालने का आदेश वेद में दिया गया है।

इसके साथ ही रजवी का कहना है कि वेदों को मानने वाले वेदों में निर्दिष्ट हिंसा को नहीं देखते, बल्कि अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों का गलत अर्थ करके उन पर हिंसा का आरोप लगाते हैं।

उत्तर— मैं श्री रजवी के साथ सभी इस्लामी विद्वानों से पूछना चाहूँगा—

1. मक्का-मदीना से प्रारम्भ हुआ इस्लाम क्या शान्ति और सत्य के द्वारा विश्व के 56-57 देशों में फैला है?

2. क्या तैमूर, अलाउद्दीन खिलजी, बाबर, अकबर और औरंगजेब जैसे लोग इस्लाम के शान्तिदूत बनकर भारत में आए थे?
3. क्या इन शान्तिदूतों की शान्ति से आहत होकर हजारों रानियों ने जौहर करके अपने प्राण गँवाए थे?
4. क्या उन्होंने भारत में शान्ति की स्थापना के लिए हजारों मन्दिर तोड़े थे?
5. क्या कुरान में काफिरों की गर्दनें उड़ाने का वर्णन नहीं है?

आप वेदानुयायियों पर वनवासियों, जिन्हें षड्यन्त्रपूर्वक आदिवासी कहा गया है, की हत्या का आरोप लगा रहे हैं। आपको इतनी समझ तो रखनी चाहिए कि भारत में आज भी वनवासी वर्ग अपनी परम्पराओं व मान्यताओं को प्रसन्नतापूर्वक निभा रहा है और इस्लामी देशों में सभी को बलपूर्वक या तो इस्लामी मान्यताओं को मानने के लिए विवश किया गया है अथवा उन्हें नष्ट कर दिया गया है।

भारत में तो सम्पूर्ण वनवासी समाज क्षत्रियों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर राष्ट्र की रक्षा के लिए अपना बलिदान देता चला आया है, चाहे इस्लामी आक्रान्ताओं के विरुद्ध युद्ध हो अथवा अंग्रेजों के विरुद्ध। वन-वासियों ने सदैव राष्ट्र व धर्म की रक्षा के लिए अपना बलिदान दिया है। इसलिए आपको अपने घर की चिन्ता करनी चाहिए, हमारे घर की नहीं। अगर वेदानुयायी समाज हिंसक होता, तो संसार में कोई दूसरा सम्प्रदाय पैदा ही नहीं होता और यदि पैदा हो जाता, तो वह जीवित भी नहीं रहता।

आप कुरान पर किये गये किसी आक्षेप को नासमझी का परिणाम बता रहे हैं, तो कृपया समझदारी का परिचय देकर क्या आप कुरान के उन अनुवादों को नष्ट करवा कर उनके सही अनुवाद कराने का साहस

करेंगे? छह दिन में सम्पूर्ण सृष्टि का बन जाना, मिट्टी से मानव का शरीर बन जाना, खुदा का तख्त पर बैठे रहना एवं अन्य सृष्टि सम्बन्धी आयतों की सही व्याख्या करके सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया को मुझे समझाने का प्रयास करेंगे? मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि कोई भी इस्लामी विद्वान् इसमें समर्थ नहीं हो सकता।

आपने वेद को तो सही ढंग से समझ ही लिया होगा, तभी तो आरोप लगा रहे हैं। यदि आप वेद को समझते हैं, तब तो आपको किसी के भाष्य उद्धृत करने की आवश्यकता ही नहीं थी। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि आपका मुख्य लक्ष्य आर्यसमाज एवं पौराणिक (कथित सनातनी हिन्दू) को ही बदनाम करना है। आपको संस्कृत भाषा का कोई ज्ञान नहीं है, अन्यथा आप आचार्य सायण का भाष्य भी उद्धृत करते। आपने श्री देवीचन्द को भी आर्य विद्वान् कहा है, यह ज्ञान क्या आपको खुदा ने दिया है कि देवीचन्द आर्यसमाज के विद्वान् थे? मैंने तो आर्यसमाज में किसी देवीचन्द नामक वेदभाष्यकार का नाम तक नहीं सुना।

आपने भाष्यों में भी प्रायः अंग्रेजी अनुवादों को ही अधिक उद्धृत किया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आपको हिन्दी भाषा का भी बहुत अधिक ज्ञान नहीं है और केवल अंग्रेजी भाषा पढ़कर वेद के अधिकारी विद्वान् बनकर वेद पर आक्षेप करने बैठ गये। मैं मानता हूँ कि ऋषि दयानन्द के अतिरिक्त अन्य सभी भाष्यकारों से वेदभाष्य करने में भारी भूलें हुई हैं।

अब हम क्रमशः आपके द्वारा उद्धृत एक-एक वेद मन्त्र पर विचार करते हैं—

आक्षेप—

अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः।
योनावृतस्य सीदत॥ (ऋ.9.13.9)

आपने इस मन्त्र का भाष्य निम्नानुसार उद्धृत किया है—

May you (O love divine), the beholder of the path of enlightenment, purifying our mind and destroying the infidels who refuse to offer worship, come and stay in the prime position of the eternal sacrifice.

—Tr. Satyaprakash Saraswati

(अराव्णः) दुष्टों को (अपघ्नन्तः) दारुण दण्ड देने वाला (पवमानाः) सत्कर्मियों को पवित्र करने वाला (स्वर्दृशः) सर्वद्रष्टा परमात्मा (ऋतस्य) सत्कर्मरूपी यज्ञ की (योनौ) वेदी में (सीदत) आकर विराजमान हो।

इस पर आक्षेप यह किया गया है कि वेद में शत्रुओं को नष्ट करने तथा ईश्वर भक्तों को ज्ञान प्रकाश प्रदान करने की बात की गयी है।

उत्तर— यहाँ अंग्रेजी अनुवाद को स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती का बताया गया है। निश्चित ही यह अनुवाद उचित नहीं है, परन्तु हिन्दी अनुवाद किसका है, यह आपने नहीं दर्शाया है। इसे हम बता रहे हैं कि यह आर्यविद्वान् आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री के द्वारा किया हुआ अनुवाद है। इस हिन्दी अनुवाद पर आपको क्या आपत्ति है? अथवा संसार का कोई सभ्य अथवा न्यायप्रिय व्यक्ति इस पर क्या आपत्ति कर सकता है? क्या दुष्ट को दण्ड देना अपराध है? यदि ऐसा है, तो संसार के सभी न्यायालयों,

पुलिस व्यवस्था और सेना को बन्द वा समाप्त कर देना चाहिए।

मैं इस मन्त्र पर आपके आक्षेप को समझ नहीं पा रहा। क्या आप दुष्ट को पुरस्कृत और सत्कर्म करने वाले को दण्डित वा अपवित्र करना चाहते हैं? जैसाकि संसार में खूनी मजहबों का इतिहास व चरित्र रहा है। यद्यपि यह हिन्दी भाष्य गलत नहीं है, परन्तु यह कथमपि पर्याप्त भी नहीं है। अब हम इस मन्त्र पर अपने ढंग से विचार करते हैं—

इस मन्त्र का ऋषि असित काश्यप देवल है। इसका अर्थ यह है कि यह मन्त्ररूपी छन्द रश्मि कूर्म प्राण रश्मियों से उत्पन्न ऐसी सूक्ष्म प्राण रश्मियों, जो स्वयं किसी के बन्धन में नहीं आतीं, परन्तु सूक्ष्म कणों और रश्मियों को अपने साथ बाँधने में समर्थ होती हैं, से होती है। इसका देवता पवमान सोम और छन्द यवमध्या गायत्री है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इस सृष्टि में विद्यमान सोम पदार्थ श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसके साथ ही इस सृष्टि में विद्युत् चुम्बकीय बल भी समृद्ध होने लगता है। अब हम इसका तीन प्रकार का भाष्य करते हैं—

अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः।
योनावृतस्य सीदत॥ [ऋ.9.13.9]

आधिदैविक भाष्य (1) —

(पवमानाः, स्वर्दृशः) सूर्य के समान तेजस्वी और शुद्ध सोम पदार्थ (अराव्णः, अपघ्नन्तः) [अराव्णः = रा दाने (अदा.) धातोर्वनिप्। नञ् समासः] संयोग-वियोग की प्रक्रिया में बाधा डालने वाले अथवा उस प्रक्रिया में भाग लेने में असमर्थ पदार्थों को नष्ट करता अथवा उन्हें हटाता हुआ (ऋतस्य, योनौ, सीदत) [ऋतम् = ऋतमित्येष (सूर्यः) वै सत्यम्

(ऐ.ब्रा.4.20), ऋतमेव परमेष्ठी (तै.ब्रा.1.5.5.1), अग्निर्वा ऋतम् (तै. ब्रा.2.1.11.1)] सूर्यलोक के सर्वोत्तम आग्नेय क्षेत्र अर्थात् केन्द्रीय भाग अथवा सम्पूर्ण सूर्यलोक के उत्पत्ति और निवासस्थान में विद्यमान रहता है।

भावार्थ— सूर्यलोक की उत्पत्ति होने से पहले विशाल खगोलीय मेघों के अन्दर सोम रश्मियाँ शुद्ध रूप में व्याप्त होती हैं। जब वे सोम रश्मियाँ तप्त होने लगती हैं, तब वे ऐसे पदार्थ जो स्वयं सूर्यलोक के निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेने के लिए संयोग-वियोग आदि प्रक्रियाओं में भाग लेने योग्य नहीं होते हैं अथवा जो संयोग-वियोग प्रक्रियाओं में बाधा डाल रहे होते हैं, उन्हें नष्ट वा दूर करती हैं। ऐसा करते हुए वे सोम रश्मियाँ सम्पूर्ण खगोलीय मेघ में व्याप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार सोम प्रधान विद्युत् ऋणावेशित कण भी सम्पूर्ण खगोलीय मेघ और कालान्तर में सूर्यलोक में व्याप्त हो जाते हैं।

आधिदैविक भाष्य (2) —

(पवमानाः, स्वर्दृशः) विद्युत् के समान गत्यादि व्यवहार करने वाले अर्थात् विद्युत् की भाँति शुद्ध मार्गों पर गमन करते हुए सूक्ष्म कण वा विकिरण (अपघ्नन्तः, अराव्णः) मार्ग में आने वाले ऐसे कण, जो संयोग-वियोग क्रियाओं में भाग नहीं लेते हैं अथवा बाधा डालते हैं, को दूर हटाते हुए चलते हैं। (ऋतस्य, योनौ, सीदत) [ऋतम् = अग्निर्वा ऋतम् (तै.ब्रा.2.1.11.1)] वे कण अग्नि के कारणरूप प्राण तत्त्व में निरन्तर निवास करते हैं अर्थात् वे प्राणों में ही निवास और प्राणों में ही प्राणों के द्वारा गमन करते हैं।

भावार्थ— इस ब्रह्माण्ड में जो कण लगभग प्रकाश के वेग से गमन

करते हैं, वे कण अथवा विकिरण मार्ग में बाधक पदार्थों को परे हटाते हुए अपने मार्ग को निर्बाध बनाते हुए चलते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे विभिन्न आयन्स वा इलेक्ट्रॉन्स को दूर नहीं हटाते, बल्कि उनके द्वारा उत्सर्जन और अवशोषण की क्रियाएँ करते हुए निरापद रूप से निरन्तर गमन करते रहते हैं। इन क्रियाओं के कारण उनकी वास्तविक शुद्ध गति में कुछ न्यूनता भी आती है। यदि अवशोषक व उत्सर्जक पदार्थ अधिक मात्रा में विद्यमान हो, तो उसी अनुपात में गमन करने वाले कणों की परिणामी गति कम होती चली जाएगी। वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित डार्क मैटर इन सूक्ष्म कणों वा विकिरणों के साथ कोई अन्योन्य क्रिया नहीं करता, इसलिए उस पदार्थ को वे कण वा विकिरण दूर हटाते हुए निर्बाध गमन करते रहते हैं। ये कण वा विकिरण सूर्यादि तारों, अन्य आकाशीय लोकों, प्राणियों के शरीरों वा वनस्पतियों अथवा खुले अन्तरिक्ष में सर्वत्र यही व्यवहार दर्शाते हैं।

ध्यातव्य— हमने यहाँ दो प्रकार के आधिदैविक भाष्य प्रस्तुत किये हैं, इसी प्रकार 'पवमान स्वर्दृक्' पदों से तारे, ग्रहादि लोकों का अर्थ ग्रहण करके अन्य आधिदैविक भाष्य भी किये जा सकते हैं।

आधिभौतिक भाष्य (1) —

(पवमानाः, स्वर्दृशः) सूर्य के समान तेजस्वी वेदवित् पवित्रात्मा व पुरुषार्थी राजा (अपघ्नन्तः, अराव्णः) ऐसे नागरिक, जो धनवान् होने पर भी राष्ट्रहित में न्यायकारी राजा द्वारा लिये जाने वाले कर का भुगतान न करते हों अथवा कर की चोरी करते हों अथवा आवश्यक होने पर किसी निर्धन का अथवा परोपकार के कार्य में आर्थिक सहयोग नहीं करते हैं अथवा समाज और राष्ट्र के हितों के विरोधी वा उदासीन होते हैं, उन्हें

राजा उचित दण्ड देता हुआ (ऋतस्य, योनौ, सीदत) [ऋतम् = ब्रह्म वाऽऋतम् (श.ब्रा.4.1.4.10), सत्यं विज्ञानम् (म.द.ऋ.भा.1.71.2)] समस्त ज्ञान-विज्ञान के मूल वेद के कारण रूप परब्रह्म परमात्मा में निवास करता है।

भावार्थ— किसी भी राष्ट्र का राजा शरीर, मन और आत्मा से पूर्ण स्वस्थ और बलवान् होना चाहिए। ऐसा राजा ही सतत पुरुषार्थ करने वाला हो सकता है। शरीर, मन वा आत्मा में से किसी एक के निर्बल वा रोगी होने पर कोई भी राजा राष्ट्र के संचालन में समर्थ नहीं हो सकता। इसके साथ ही जब तक राजा ज्ञान-विज्ञान से पूर्णतः सम्पन्न नहीं हो, तब तक भी राजा राष्ट्र का उचित संचालन नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे राजा को उसके चाटुकार, चालाक-स्वार्थी मन्त्री, प्रशासनिक अधिकारी, वैज्ञानिक, पूँजीपति एवं दूसरे देशों के राजा भ्रमित करके अपना प्रयोजन सिद्ध करते रह सकते हैं।

ऐसा राजा दण्डनीय और सम्माननीय पात्रों का विवेक नहीं रख सकता, जबकि विद्वान् और योगी राजा इसकी पहचान करके दण्डनीयों को दण्ड और सम्माननीयों को सम्मान देकर सम्पूर्ण राष्ट्र का हित सम्पादन करता है। जिस राष्ट्र में दण्डनीयों को दण्ड और सम्माननीयों को सम्मान तथा सत्य व उन्नति के मार्ग पर बढ़ने वालों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, वह राष्ट्र अराजकता, हिंसा, भय, अशान्ति, अन्याय और तीनों प्रकार के दुःखों से ग्रस्त होता हुआ विनाश को प्राप्त होता है। अपराधी को दण्ड देने के विषय में भगवान् मनु का कथन है—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ (मनु.7.18)

अर्थात् उचित दण्ड ही प्रजा पर शासन करता है और दण्ड ही प्रजा की रक्षा करता है। दण्ड कभी शिथिल नहीं होता, इसलिए विद्वान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं। कंजूस को दण्ड देने के विषय में महात्मा विदुर ने कहा है—

द्वावम्भसी निवेष्टव्यौ, गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं, दरिद्रं चातपस्विनम्॥ (विदुरनीति 1.65)

अर्थात् धनवान् होते हुए भी परोपकार के कार्यों में दान न देने वाले और निर्धन होते हुए भी परिश्रम न करने तथा दुःख सहना न चाहने वाले को गले में भारी पत्थर बाँधकर गहरे जलाशय में डुबो देना चाहिए। यहाँ सम्पूर्ण प्रजा के लिए भी सन्देश है कि धनी व्यक्ति धन को ईश्वर का प्रसाद समझकर त्यागपूर्वक ही उपयोग करे। वह निर्धन व दुर्बल की सहायता अवश्य करे। उधर निर्धन व्यक्ति धनी से ईर्ष्या कदापि न करे, बल्कि स्वयं धर्मपूर्वक पुरुषार्थ करता रहे और दुःखों को भी सहन करने का अभ्यास करे। वह किसी के धन की चोरी करके धनी होने का प्रयास न करे अथवा बिना कर्म और योग्यता के धन, पद वा ऐश्वर्य पाने की इच्छा कभी नहीं करे।

आधिभौतिक भाष्य (2) —

(पवमानाः, स्वर्दृशः) वेदविद्या के प्रकाश से प्रकाशमान, ब्रह्मतेज से सम्पन्न, पवित्रात्मा एवं योगी आचार्य वा आचार्या अपने विद्यार्थियों को विद्याभ्यास कराते हुए (अपघ्नन्तः, अराव्णः) विद्या को ग्रहण करने की इच्छा न करने वाले अथवा ग्रहण न करने वाले शिष्य और शिष्याओं की आवश्यक एवं उचित ताड़ना भी करें।

(ऋतस्य, योनौ, सीदत) ऐसे आचार्य और आचार्या सम्पूर्ण सत्य विद्या

के मूल कारण वेद अथवा परमात्मा में निरन्तर विराजमान रहते हैं।

भावार्थ— वेद ज्ञान से सम्पन्न निरन्तर योगनिष्ठ विद्वान् वा विदुषी को ही आचार्य वा आचार्या बनने का अधिकार होना चाहिए। उनको चाहिए कि वे अपने शिष्य वा शिष्याओं का प्रीतिपूर्वक और निष्कपट भाव से अध्यापन करें। जो विद्यार्थी विद्याग्रहण में प्रमाद करें और प्रीतिपूर्वक समझाने से भी न समझें, उन्हें समुचित दण्ड अवश्य दें। इस विषय में ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश के द्वितीय समुल्लास में व्याकरण महाभाष्य का प्रमाण देते हुए लिखा है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥

अर्थात् जो माता, पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं, वे जानो अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न करते हैं, वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिला के नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं और सन्तान और शिष्य लोग भी ताड़ना से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें। परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपा दृष्टि रक्खें।

ध्यातव्य— इसी प्रकार माता-पिता आदि का ग्रहण करके अन्य प्रकार के आधिभौतिक भाष्य भी किये जा सकते हैं।

आध्यात्मिक भाष्य—

(पवमानाः, स्वर्दृशः) यम-नियमों से पवित्र हुआ योगी ब्रह्म का साक्षात् करने वाला (अपघ्नन्तः, अराव्णः) सभी प्रकार के दोषों का परित्याग न

कर पाने की अनिष्ट चित्तवृत्तियों को दूर करता है अर्थात् वह योगी पुरुष सभी प्रकार की अनिष्ट वृत्तियों को शनैः-शनैः निरुद्ध करता चला जाता है। जब उसकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, तब (ऋतस्य, योनौ, सीदत) वह योगी पुरुष सब सत्य विद्याओं के मूल परब्रह्म परमात्मा में विराजमान हो जाता है अर्थात् वह ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेता है।

भावार्थ— जब कोई योगाभ्यासी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे यमों एवं शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान जैसे नियमों से स्वयं को पवित्र बना लेता है, तब उसकी चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध होने लगती हैं, जिससे वह ब्रह्मसाक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट होता है कि यम-नियमों का पालन किये बिना कोई भी व्यक्ति योगी नहीं बन सकता।

संसार भर के वेदविरोधी वा भ्रान्त पाठकगण! मेरे इन तीन श्रेणी के कुल पाँच भाष्यों को पढ़कर बतायें कि इस मन्त्र में हिंसा का विधान नहीं, बल्कि किसी भी राष्ट्र, समाज वा विश्व के कल्याण का सुन्दर उपाय सूत्र रूप में दर्शाया है। वास्तविक एवं बुद्धिमान् जिज्ञासु इस एक आक्षेप पर ही मेरे समाधान से वेद पर आक्षेपकर्त्ताओं की भावनाओं तथा भाष्यकारों की कमियों को समझ जायेंगे।

* * * * *

आक्षेप—

यहाँ सुलेमान रजवी ने ऋग्वेद 7.6.3 के दो भाष्य निम्न प्रकार उद्धृत किये हैं—

Rig Veda 7.6.3

"May the fire divine chase away those infidels, who do not perform worship and who are uncivil in speech. They are niggards, unbelievers, say no tribute to fire divine and offer no homage. The fire divine turns those godless people far away who institute no sacred ceremonies."

—Tr. SatyaPrakash Saraswati

पदार्थ— हे राजन् (अग्निः) अग्नि के तुल्य तेजोमय! आप (अक्रतून्) निर्बुद्धि (ग्रथिनः) अज्ञान से बंधे (मृध्रवाचः) हिंसक वाणी वाले (अयज्ञान्) सङ्गादि वा अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान से रहित (अश्रद्धान्) श्रद्धारहित (अवृधान्) हानि करने हारे (तान्) उन (दस्यून्) दुष्ट साहसी चोरों को (प्रप्र, विवाय) अच्छे प्रकार दूर पहुँचाइये (पूर्वः) प्रथम से प्रवृत्त हुए आप (अपरान्) अन्य (अयज्यून्) विद्वानों के सत्कार के विरोधियों को (पणीन्) व्यवहार वाले (निश्चकार) निरन्तर करते हैं।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। हे विद्वानो! तुम लोग सत्य के उपदेश और शिक्षा से सब अविद्वानों को बोधित करो, जिससे ये अन्यों को भी विद्वान् करें।

पदार्थः — (नि) (अक्रतून्) निर्बुद्धीन् (ग्रथिनः) अज्ञानेन बद्धान् (मृध्रवाचः) मृध्रा हिंस्रा अनृता वाग्येषान्ते (पणीन्) व्यवहारिणः (अश्रद्धान्) श्रद्धारहितान् (अवृधान्) अवर्धकान् हानिकरान् (अयज्ञान्) सङ्गाद्यग्निहोत्राद्यनुष्ठानरहितान् (प्रप्र) (तान्) (दस्यून्) दुष्टान् साहसिकाँश्चोरान् (अग्निः) अग्निरिव राजा (विवाय) दूरं गमयति (पूर्वः) आदिमः (चकार) करोति (अपरान्) अन्यान् (अयज्यून्) विद्वत्सत्कारविरोधिनः।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। हे विद्वांसो! यूयं सत्योप-देशशिक्षाभ्यां सर्वानविदुषो बोधयन्तु यत एतेऽपरानपि विदुषः कुर्य्युः।

उत्तर— यहाँ आक्षेपकर्त्ता ने अपने शब्दों में इन भाष्यों पर कोई टिप्पणी नहीं की है, परन्तु स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती के अंग्रेजी अनुवाद के कुछ वाक्यों को रेखांकित अवश्य किया गया है, जिससे यह संकेत मिलता है कि इस पर आक्षेपकर्त्ता के वही आक्षेप हैं, जो आक्षेप क्रमांक-1 में दर्शाए गए हैं। पाठक हमारे आक्षेप क्रमांक-1 के उत्तर को समझ लेंगे, उन्हें इस आक्षेप का भी उत्तर स्वयं मिल जाएगा। निश्चित ही स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती का अंग्रेजी अनुवाद न तो उचित है, न पर्याप्त है और न ही स्पष्ट है।

स्वामी जी की समस्या यह भी हो सकती है कि अंग्रेजी भाषा में हिन्दी वा संस्कृत भाषा के गम्भीर भावों के समान कोई शब्द ही नहीं है।

इस कारण से वेदादि शास्त्रों का किसी अन्य भाषा, विशेषकर अंग्रेजी आदि निर्धन भाषाओं में अनुवाद करना सर्वथा अनुचित और संकटपूर्ण है। स्वामी जी को चाहिए था कि वे अंग्रेजी भाषा में ऋषि दयानन्द के भाष्य की व्याख्या करते। जहाँ उपयुक्त शब्द नहीं मिलते हैं, वहाँ और भी अधिक स्पष्ट व्याख्या की आवश्यकता होती है। दूसरा भाष्य आक्षेपकर्त्ता ने ऋषि दयानन्द का दिया है, जिस पर कोई भी आक्षेप नहीं किया गया है और हमें नहीं लगता कि ऋषि दयानन्द के इस भाष्य पर कोई भी बुद्धिमान् मानवतावादी असहमत हो सकता है।

अब हम इस मन्त्र पर विचार करते हैं। यह मन्त्र इस प्रकार है—

न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्रतान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥

[ऋग्वेद 7.6.3]

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है। वसिष्ठ के विषय में ऋषियों का कथन है— प्राणा वै वसिष्ठ ऋषिः (श.ब्रा.8.1.1.6), अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः (ऐ.ब्रा.1.28)। इस प्रकार यहाँ आग्नेय पदार्थों में विद्यमान वा उनसे उत्सर्जित होने वाली प्राण रश्मियाँ ही वसिष्ठ कहलाती हैं और इन्हीं रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता वैश्वानर है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है— अग्निर्वा एष वैश्वानरो यत्संवत्सरः (जै.ब्रा.2.379)।

इसका छन्द भुरिक् पंक्ति है। भुरिक् के विषय में महर्षि यास्क लिखते हैं—

भुरिजौ बाहुनाम (निघं. 2.4)

ऋषि दयानन्द कृत ऋ.भा.4.2.14 में इसका अर्थ धारक और पोषक किया है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक में अग्नि अपने बाधक वा वारक बलों के द्वारा पदार्थ की यजन प्रक्रिया को समृद्ध करता है और नील वर्ण की उत्पत्ति वा समृद्धि होने लगती है। ध्यातव्य है कि आचार्य पिङ्गल ने पंक्ति छन्द का वर्ण नीला बताया है। अब हम इसका भाष्य प्रारम्भ करते हैं—

आधिदैविक भाष्य—

(नि, अक्रतून्) [क्रतुः = कर्मनाम (निघं.2.1), मित्र एव क्रतुः (श.ब्रा. 4.1.4.1)] जो पदार्थ नितराम् अर्थात् पूर्ण रूप से यजन क्रिया से रहित होते हैं। (ग्रथिनः) अव्यवस्थित वा अनिष्ट रूप से गुँथे हुए (मृध्रवाचः) [इस पद में 'मृधु उन्दने' धातु प्रयुक्त है, जिसका अर्थ मारना, गीला करना वा होना है।] जिन पदार्थों में हिंसक वाक् रश्मियाँ विद्यमान हों, (अयज्ञान्) जो पदार्थ संयोजक वा वियोजक गुणों से युक्त न हों, (अश्रद्धान्) [श्रद्धा = तेज एव श्रद्धा (श.ब्रा.11.3.1.1), श्रद्धा वा आपः (तै.ब्रा.3.2.4.1)] जो पदार्थ दुर्बल प्राण रश्मियों से युक्त तथा यत्र-तत्र विरल मात्रा में बिखरे हुए हों, (अवृधान्) ऐसे पदार्थ जिनमें वृद्धि नहीं हो रही हो अथवा जो यजन क्रियाओं में वृद्धि नहीं होने दे रहे हों, (तान्, दस्यून्) ऐसे सभी पदार्थ सृजन प्रक्रियाओं को क्षीण करते हैं, ऐसे सभी पदार्थों को (अग्निः) वैश्वानर अग्नि (प्र, प्र, विवाय) बहुत अच्छी प्रकार से दूर हटाता रहता है और जो पदार्थ दुर्बल वा निष्क्रिय हैं, उन्हें बहुत अच्छी प्रकार से गति प्रदान करता है।

महर्षि ऐतरेय महीदास ने कहा है— अन्तरिक्षं वै प्र (ऐ.ब्रा.2.41), प्राणो वै प्र (ऐ.ब्रा.2.40)। इसका अर्थ यह है कि अग्नि तत्त्व प्राण और आकाश तत्त्व को विशेष सक्रिय करके दुर्बल एवं निष्क्रिय पदार्थों को

सबल बनाता है और हानिकारक पदार्थों को दूर हटाता हुआ छिन्न-भिन्न करता है। (पूर्वः, अपरान्, अयज्यून्) [यहाँ 'यज्युः' पद यज धातु से 'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्' (उणादिकोष 3.20) से युच् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है।] सम्पूर्ण पदार्थ में पूर्व से ही पूर्ण रूप से व्याप्त वैश्वानर अग्नि ऐसे पदार्थों, जिनमें यजनशीलता का गुण नगण्य होता है, को (पणीन्, चकार) यज्ञीय व्यवहार से युक्त करता रहता है।

यहाँ 'अपरान्' पद यजनशील पदार्थों से भिन्न पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

भावार्थ— सूर्यलोक में विद्यमान तीव्र ऊष्मा समस्त पदार्थ का निरन्तर छेदन-भेदन करता रहता है। बड़े कण टूटकर छोटे कणों में परिणत होते रहते हैं। उनमें से जो पदार्थ संलयन होने योग्य होता है, वह आयन रूप में केन्द्रीय भाग की ओर प्रवहित होता रहता है। उनके मार्ग में जो भी बाधक पदार्थ आते हैं एवं जो पदार्थ संलयन योग्य नहीं होते, उन पदार्थों को ऊष्मायुक्त तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें दूर हटाती रहती हैं।

आधिभौतिक भाष्य—

यह भाष्य आपने उद्धृत किया ही है और इस पर आपकी कोई टिप्पणी भी नहीं है।

यदि राजा अविद्याग्रस्त अर्थात् मूढ़ मति, हिंसा के लिए लोगों को प्रेरित करने वाले, समाज में विघटन पैदा करने वाले, अग्निहोत्रादि से पर्यावरण को शुद्ध न करने वाले, विद्या एवं मानवता पर श्रद्धा न रखने वाले और हानिकारक दुष्ट अपराधियों को दूर नहीं करेगा, उन्हें सन्मार्ग पर नहीं लाएगा, तो क्या उनकी पूजा करेगा? उनको दूर करने से ही किसी भी राष्ट्र वा समाज का हित हो सकता है, अन्यथा राष्ट्र और विश्व

में अराजकता ही फैलेगी। इसलिए ऋषि दयानन्द का भाष्य सर्वथा उचित और कल्याणकारी है।

आध्यात्मिक भाष्य—
(अग्निः) शरीरस्थ विद्युदग्नि (अक्रतून्) [क्रतुः = कर्मनाम (निघं. 2.1), प्रज्ञानाम (निघं.3.9)] जो कोशिका आदि पदार्थ निष्क्रिय वा मृत हो जाते हैं, (ग्रथिनः) जो पदार्थ विकृत वा अनिष्ट बन्धनों से युक्त होते हैं, (मृध्रवाचः) [वाक् = वागेवाऽग्निः (श.ब्रा.3.2.2.13)] अनिष्टकारी अग्नि अर्थात् जिस विकृत अग्नि के द्वारा शरीर में नाना रोग हो सकते हैं, (अयज्ञान्) ऐसे अवशिष्ट पदार्थ जो शरीर के लिए उपयोगी नहीं होते, (अश्रद्धान्) [श्रद्धा = तेज एव श्रद्धा (श.ब्रा.11.3.1.1)] जो पदार्थ तेजहीन वा दुर्बल हो चुके हैं, (अवृधान्) जो पदार्थ शरीर के लिए हानिकारक हैं अर्थात् विजातीय पदार्थ (तान्, दस्यून्) वे ऐसे सभी पदार्थ शरीर को क्षीण करने वाले होते हैं, उन सभी हानिकारक पदार्थों को (प्र, प्र, विवाय) बहिर्गत अथवा नष्ट करता रहता है।

ऐसे सभी पदार्थ ही अवशिष्ट रूप होकर मल-मूत्र, स्वेद, कफ, श्वास आदि के द्वारा निरन्तर निःसृत होते रहते हैं। (पूर्वः) इन सब पदार्थों की उत्पत्ति से पूर्व से विद्यमान वह शरीरस्थ अग्नि (अपरान्) अन्य पदार्थों को (अयज्यून्) जो पदार्थ सप्तधातुओं में परिणत नहीं हो रहे, उनको (पणीन्, नि, चकार) सम्यक् क्रियाओं और बलों से निरन्तर युक्त करता रहता है।

भावार्थ— शरीर में रहने वाले विद्युत् एवं अग्नि पदार्थ शरीर की सभी क्रियाओं को संचालित करने में अनिवार्य भूमिका निभाते हैं। विद्युत् और ऊष्मा के कारण ही शरीर में अनेक छेदन और भेदन की क्रियाएँ चलती

रहती हैं। भोजन के अवयवों का सूक्ष्म भागों में टूटना, पाचक रसों का निकलना, उनसे नाना प्रकार की रासायनिक क्रियाओं का होना, रसरूप हुए भोजन का आँतों के द्वारा अवशोषित होना, फुफ्फुस, हृदय और मस्तिष्क के साथ-साथ सभी नाड़ियों और नसों का क्रियाशील होना, उत्सर्जन आदि सभी तन्त्रों का कार्य करना, बाहर से आए जीवाणुओं और विषाणुओं का रक्त के श्वेत अणुओं द्वारा नष्ट किया जाना, शरीर की कोशिकाओं में ऊर्जा की उत्पत्ति होना, ये सभी कार्य विद्युत् और ऊष्मा के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

जिन-जिन मन्त्रों में भी आपने हिंसा के आरोप लगाये हैं, उन-उन का इसी प्रकार उत्तर समझना चाहिए। हिंसक, चोर, डाकू, ज्ञान के शत्रु, ज्ञानी व परोपकारियों को दुःख देने वाले, कंजूस, सामर्थ्य होने पर भी परोपकार न करने वाले, आतंकवादी एवं निर्बलों को सताने वाले लोगों को दण्ड देना हिंसा नहीं, बल्कि सच्ची अहिंसा है, जिससे सभी प्राणी सुखी रह सकें। इस कारण हम हिंसा आदि दोषों से आरोपित अन्य मन्त्रों का कोई भी उत्तर देना आवश्यक नहीं समझते।

हम यहाँ वेद के कुछ उन मन्त्रों को उद्धृत करते हैं, जिनमें केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र के प्रति अत्यन्त प्रेम और आत्मीयतापूर्ण व्यवहार की बात की गई है।

1. मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।
अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति मित्र के समान व्यवहार करें।

2. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः।
अर्थात् हम सब मनुष्यों के खान-पान समान होवें।

3. यत्र भुवनं भवत्येकनीडम्।

अर्थात् हम सब पृथिवीवासी परस्पर इस प्रकार रहें, जैसे घोंसले में पक्षी का परिवार परस्पर प्रेम से रहता है।

4. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
अर्थात् हम सब मनुष्यों के विचार, हमारी सामाजिक परम्पराएँ, हमारे चित्त और भावनाएँ सब समान होवें।

5. अज्येष्ठासो अकनिष्ठासः।
अर्थात् हम मनुष्यों में कोई भी बड़ा नहीं है और कोई भी छोटा नहीं है अर्थात् सभी एक पिता परमात्मा की सन्तान हैं।

इस प्रकार के उदात्त उपदेशों के रहते कोई अज्ञानी व्यक्ति ही वेदों में हिंसा, छुआछूत, ऊँच-नीच, शोषण जैसे पापों का आरोप लगा सकता है। बुद्धिमान् तो कभी इस प्रकार का विचार मन में भी नहीं ला सकता। इस कारण इस प्रकरण को हम यहाँ समाप्त करते हैं।

वैदिक ईश्वर को न मानने वाला दोषी क्यों?

सुलेमान रजवी के आरोपों में अनेक मन्त्रों पर यह आरोप है कि उनमें नास्तिकों को दण्ड देने का प्रावधान है। सर्वप्रथम तो हम यहाँ यह कहना चाहेंगे कि स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती के अनुवाद अथवा अन्य जिसने भी अनुवाद किये हैं, वे वेद के वास्तविक एवं सम्पूर्ण आशय को व्यक्त करने में नितान्त असमर्थ हैं। वेद का भाष्य करने की शैली वही होनी चाहिए, जो हमने दो मन्त्रों का भाष्य करके पूर्व में दर्शायी है।

वेद का मूल अर्थ तो आधिदैविक ही होता है, अन्य दोनों प्रकार के अर्थ मूल अर्थ के साथ कहीं न कहीं संगत रहते हैं। मूल अर्थ सार्वदेशिक व शाश्वत होता है, जबकि आधिभौतिक अर्थ भिन्न-भिन्न लोकों के

मननशील प्राणियों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है, परन्तु आध्यात्मिक अर्थ भी शाश्वत और सार्वदेशिक होता है। सारांशतः वेद का आधिदैविक भाष्य किये बिना अथवा उसे जाने बिना अन्य दोनों प्रकार के भाष्य संदिग्ध ही रहते हैं।

ऋषि दयानन्द ने समयाभाव के कारण बहुत कम मन्त्रों के आधिदैविक भाष्य किये हैं। उन्होंने तत्कालीन राष्ट्रीय, सामाजिक और वैश्विक परिस्थितियों को देखते हुए मनुष्यों को आध्यात्मिक बनाने के साथ-साथ लौकिक व्यवहार में भी कुशल और सर्वहितैषी बनाने की भावना से प्रायः आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थ ही किये हैं। उन्होंने केवल संस्कृत भाषा में ही अपने भाष्य किये हैं, हिन्दी अनुवाद उनके सहयोगी पण्डितों ने किया है। इस कारण उस हिन्दी भाषा में अनेकत्र त्रुटियाँ भी रह गयी हैं। कहीं त्रुटियाँ अनजाने में हुई हैं, तो कहीं जानबूझकर भी की हुई प्रतीत होती हैं।

वेद के अन्य आर्यसमाजी भाष्यकारों ने ऋषि दयानन्द की शैली का यथाशक्ति अनुसरण करने का प्रयास किया है, परन्तु जहाँ वे ऐसा नहीं कर सके, वहाँ वे आचार्य सायण आदि का अनुसरण करने को ही विवश हुए हैं। इस कारण अनेकत्र भारी दोष आ गये हैं। यह सब कहने का अर्थ यह भी नहीं है कि कोई भी अनाड़ी व्यक्ति वेद पर आक्रमण करने का अधिकारी हो गया। कमजोर काँच के महल में रहने वाले पत्थरों के महलों में रहने वालों पर पत्थर फेंकने का दुस्साहस करें, यह हास्यास्पद ही है। इतने पर भी हम इनके इन आक्षेपों के विषय में कुछ बातें स्पष्ट करना चाहते हैं, उनमें प्रथम यह है कि नास्तिक किसे कहते हैं?

भगवान् मनु के अनुसार— 'नास्तिको वेदनिन्दकः' अर्थात् जो वेद

की निन्दा करता है, ज्ञान-विज्ञान की निन्दा करता है, ज्ञानियों का शत्रु है, ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करता है, लोगों को अन्धविश्वासी बनाता है, विद्या का विरोधी बनाता है, जो स्वयं सत्य से दूर रहता और दूसरों को सत्य से दूर करने का प्रयास करता है, उसे नास्तिक कहते हैं। वेद सत्यासत्य के विचार बिना किसी बात को बलात् स्वीकार करने का उपदेश नहीं करता, बल्कि वह सत्य और असत्य को जानकर ही सम्पूर्ण लोकव्यवहार करने का उपदेश करता है। प्राणिमात्र के प्रति मैत्री करने और दुष्टों को दण्ड देने का उपदेश करता है। सम्पूर्ण सृष्टि के वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन करता है।

वेद कोई साम्प्रदायिक अथवा किसी वर्ग व देश का ग्रन्थ नहीं है, बल्कि यह ब्रह्माण्डीय ग्रन्थ है। इसका विरोध करने का अर्थ यह है कि विरोध करने वाला व्यक्ति सम्पूर्ण सृष्टि के ज्ञान-विज्ञान का विरोधी है। अब कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति विचार करे कि ऐसे महान् ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ वेद का विरोध करने वाला मानवता का हितैषी होगा वा शत्रु होगा? निश्चित ही वह मानवता का प्रबल शत्रु होगा। तब मानवता के प्रबल शत्रु को दण्ड क्यों नहीं देना चाहिए? इसी प्रकार हम ईश्वर का विरोध करने के आक्षेप पर भी विचार करते हैं।

वेदोक्त ईश्वर विभिन्न सम्प्रदायों में वर्णित कल्पित ईश्वर नहीं है, वह सातवें आसमान अथवा चौथे आसमान पर तख्त पर बैठा हुआ खुदा नहीं है, जिसे उठाने के लिए फरिश्तों की आवश्यकता पड़े। वह मनुष्य और मनुष्य के बीच फूट डालने व हिंसा कराने वाला खुदा नहीं है। वह अपने-अपने क्षेत्र में रहने वाले लोगों को अकारण ही गुमराह करने वा राह बताने वाला भी नहीं है। वह अपनी ही सन्तानरूप पशु-पक्षियों को मारकर खाने का उपदेश करने वाला भी नहीं है। वह सृष्टि के विषय में

नितान्त काल्पनिक एवं हास्यास्पद कहानियाँ सुनाने वाला नहीं है। वह कैलाश पर्वत, क्षीर सागर आदि में रहने वाला शरीरधारी ईश्वर भी नहीं है।

वेदोक्त ईश्वर ऐसी सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमती, सर्वकल्याण-कारिणी एवं निराकार चेतना का नाम है, जो सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों में पूर्णतया व्याप्त है, जो जीवमात्र का कल्याण करने के लिए ही सृष्टि की रचना करती है और सब मनुष्यों को ऐसा ही उपदेश करती है। उस ऐसे सर्वोच्च सामर्थ्यवान् चेतनस्वरूप ईश्वर की पूजा का अर्थ यह नहीं है कि उसे मन्दिर में जाकर प्रसाद चढ़ाया जाये, न ही यह है कि मस्जिद, चर्च और गुरुद्वारों में जाकर नाना प्रकार के कर्मकाण्ड किये जायें, बल्कि ईश्वर पूजा का अर्थ है कि यम-नियमों का पालन करते हुए अर्थात् पूर्ण सत्यवादी, जीवमात्र से प्रेम करने वाले, अपनी इन्द्रियों को वश में करने वाले एवं सृष्टि का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करने वाले होकर निरन्तर परोपकार करने का प्रयत्न किया जाये और ऐसा करते हुए ही ध्यान, उपासना आदि किया जाता है।

जब तक ऐसा नहीं होता अथवा जो ऐसा करने का प्रयास नहीं करता, उसे ईश्वर की पूजा करने वाला नहीं मानना चाहिए। ऐसा व्यक्ति ही दुष्ट और अधार्मिक होता है। आज ऐसे ही व्यक्तियों की संख्या संसार में बहुत अधिक है, इसलिए सारा संसार दुःखी है। पूजा-नमाज और प्रार्थना के आडम्बर बहुत हो रहे हैं, कल्पित ईश्वरों पर भाषण बहुत दिये जा रहे हैं, परन्तु इन लोगों ने सत्य से सम्बन्ध तोड़ दिया है। क्या ऐसे लोग दण्डनीय नहीं होने चाहिए?

वस्तुतः ईश्वर, पूजा एवं वेद इन तीनों के सत्य स्वरूप को न समझने

के कारण ही आप वेद के विषय में नितान्त भ्रान्त हैं अथवा अपनी कुरान में वर्णित हिंसादि पापों को सही ठहराने के लिए ही दुर्भावनावश वेद पर भी ऐसे आरोप लगा रहे हैं। एक ओर तो भाष्यकारों और अनुवादकों का दोष, दूसरी ओर पूर्वाग्रह और दुर्भावनावश इन भाष्यों और अनुवादों को पढ़ने वालों का दोष, इस प्रकार कोढ़ में ही खाज हो गयी है। यदि कोई वास्तव में सत्य का जिज्ञासु है, तब वह हमारे इन दो भाष्यों को पढ़कर ही वास्तविकता को जान जायेगा और वेद का अनुयायी हो जायेगा, परन्तु बुद्धिहीन और पूर्वाग्रही व्यक्ति के लिए संसार में कोई औषधि नहीं है।

इस स्पष्टीकरण के पश्चात् आपके अन्य आक्षेपों पर विचार कर रहे हैं।

* * * * *

आक्षेप—

Atharva Veda 5.21.3

"Let this war drum made of wood, muffled with leather straps, dear to all the persons of human race and bedewed with ghee, speak terror to our foemen."

—Tr. Vaidyanath Shastri

वानस्पत्यः संभृत उस्त्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः॥

भाष्य— हे दुन्दुभे! नक्कारे! तू जिस प्रकार (वानस्पत्यः) लकड़ी का बना हुआ होकर भी (उस्त्रियाभिः संभृतः) चाम के तस्मों से जकड़ा हुआ (विश्वगोत्र्यः) समस्त जन का बन्धु है। वह (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये। (आज्येन अभिघारितः) घृत द्वारा अभिषिक्त होकर (प्रत्रासं वद) भय और आतंक बतला।

यहाँ आक्षेपकर्त्ता का आक्षेप है कि वेद में अपने विरोधियों को आतंकित करने का विधान है।

उत्तर— इस मन्त्र से उपर्युक्त भाष्यकारों ने शत्रुओं को आतंकित करने का वर्णन किया है। यद्यपि यह भाष्य नहीं है, अपितु मात्र सरल अनुवाद है, जो मन्त्र के अभिप्राय को उचित रीति से दर्शाने में सक्षम नहीं है। हम

पूर्ववत् यहाँ फिर कहना चाहेंगे कि वेद का अनुवाद नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि समुचित भाष्य किया जाना चाहिए। पुनरपि इसमें आपको क्या आपत्ति प्रतीत होती है? जब दो सेनाओं में युद्ध होता है, तब शत्रु को आतंकित करने की बात तो क्या, उसे तो नष्ट ही किया जाता है। इसी का नाम युद्ध है, जो धर्मात्माओं और पापियों के बीच सदा से चलता आया है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि किसे अपना शत्रु मानना चाहिए?

महर्षि दयानन्द ने स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में मनुष्यत्व का लक्षण बताते हुए लिखा है—

मनुष्य उसी को कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं— कि चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों— उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।

अब कोई बताये कि मनुष्य की इससे अधिक न्यायसंगत, तर्कसंगत एवं कल्याणकारिणी परिभाषा और क्या हो सकती है? जो व्यक्ति अपने बल के अहंकार में जनसाधारण अथवा विभिन्न पशु-पक्षियों को दुःख

देता है, उसको कोई भी सज्जन व्यक्ति अपना शत्रु क्यों न समझे? ऐसे दुष्ट व्यक्ति ही सम्पूर्ण विश्व में अराजकता फैलाते हैं। इनको जितना अधिक सहन किया जायेगा अथवा इनके प्रति जितना अधिक तटस्थ रहा जायेगा, उतनी ही अधिक इस समाज, राष्ट्र वा विश्व में हिंसा, अराजकता और अशान्ति फैलेगी। इस कारण ऐसे बर्बर लोगों को शान्ति और मानवता की स्थापना करने के लिए अवश्य ही नष्ट कर देना चाहिए। तब यदि ऐसे शत्रुओं को दण्ड देने की प्रार्थना वेद में हो, तो उसकी निन्दा कोई अराजक और उपद्रवी तत्त्व ही कर सकता है।

अब हम इस मन्त्र का अपना अर्थ प्रस्तुत करते हैं—

वानस्पत्यः संभृत उस्त्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः॥ [अथर्व.5.21.3]

इस मन्त्र का ऋषि ब्रह्मा है। [ब्रह्मा = इन्द्र एव ब्रह्माऽऽसीत् (जै.ब्रा. 3.374), ऐन्द्रो वै ब्रह्मा (तै.सं.7.1.7.5)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों से उत्पन्न होने वाली रश्मियों से होती है। इसका देवता दुन्दुभि है। दुन्दुभि के विषय में महर्षि यास्क का कथन है—

दुन्दुभिः इति शब्दानुकरणम्।
द्रुमो भिन्न इति वा, दुन्दुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः (निरु.9.12)

इसका अर्थ यह है कि संयोजक गुणों से युक्त एक विशेष प्रकार की ऊर्जा को दुन्दुभि कहते हैं। इसके विषय में विस्तार से जानने के लिए हमारा ग्रन्थ 'वेदार्थ-विज्ञानम्' पठनीय है। इसका छन्द अनुष्टुप् होने से संयोजक ऊर्जा अनुकूलतापूर्वक विभिन्न कणों के परस्पर संयुक्त होने में सहायक होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से ब्रह्माण्ड में विभिन्न

प्रकार के रंग-बिरंगे प्रकाश की उत्पत्ति वा समृद्धि होने लगती है। इसका भाष्य इस प्रकार है—

आधिदैविक भाष्य—

(वानस्पत्यः) [वनस्पतिः = अग्निर्वै वनस्पतिः (कौ.ब्रा.10.6), प्राणो वनस्पतिः (कौ.ब्रा.12.7), प्राणो वै वनस्पतिः (ऐ.ब्रा.2.4), सोमो वै वनस्पतिः (मै.सं.1.10, श.ब्रा.3.8.3.33)] अग्नि एवं वायु से उत्पन्न दुन्दुभि संज्ञक उपर्युक्त ऊर्जा (उस्रियाभिः) [उस्रिया = उस्रिया इति गोनाम (निघं.2.11)] विभिन्न प्रकार की रश्मियों के द्वारा (संभृतः) अच्छी प्रकार धारण एवं पुष्ट हुई (विश्वगोत्र्यः) [गोत्रः = मेघनाम (निघं.1.10)] सम्पूर्ण खगोलीय मेघ में विद्यमान (अमित्रेभ्यः) शत्रुरूपी बाधक अथवा असंयोजक पदार्थों की ओर (प्रत्रासम्, वद) [वद = वदति गतिकर्मा (निघं.2.14)] तीव्र भेदक तरंगों को प्रक्षिप्त करती है। (आज्येन, अभिघारितः) [आज्यम् = प्राणो वा आज्यम् (तै.सं.3.8.15.23), छन्दांसि वा आज्यम् (तै.सं.3.1.5.3)] यह ऊर्जा विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियों के द्वारा अभिसिंचित होती है।

भावार्थ— खगोलीय मेघों के अन्दर विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियों से उत्पन्न तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें नाना प्रकार की छेदन, भेदन और संयोजन क्रियाओं को सम्पन्न करती हैं, जिससे हानिकारक पदार्थ छिन्न-भिन्न होकर दूर हो जाते हैं और संयोज्य पदार्थ निर्बाध रूप से संयुक्त होने लगते हैं।

आधिभौतिक भाष्य—

(वानस्पत्यः) [वनम् = रश्मिनाम (निघं.1.5)। यह पद 'वन शब्दे', 'वन संभक्तौ' एवं 'वनु याचने' धातुओं से व्युत्पन्न है। वनस्पतिरेव

वानस्पत्यः] प्रजा द्वारा वांछित अन्न-धनादि पदार्थों का राष्ट्र में समुचित वितरण करने वाला, विद्या के प्रकाश से प्रकाशित सत्योपदेष्टा राजा (विश्वगोत्र्यः) राष्ट्र की प्रजा के सभी कुलों में अपने हितकारी कार्यों द्वारा सदैव विद्यमान अर्थात् समस्त प्रजा का हितचिन्तक (उस्त्रियाभिः, संभृतः) गौ आदि उपकारी पशुओं के द्वारा तथा नाना प्रकार की निरापद किरणों वा ऊर्जा के द्वारा राष्ट्र को सम्यक् रूप से धारण करने वाला (अमित्रेभ्यः, प्रत्रासम्, वद) राष्ट्रविरोधी तत्त्वों और समाज कण्टकों के विरुद्ध कठोर दण्ड का आदेश देवे। (आज्येन, अभिघारितः) जैसे घृत से सिंचित समिधाएँ जलकर नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही तेजस्वी राजा हिंसक और क्रूर अपराधियों को नष्ट कर दे।

भावार्थ— वेदविद्या का महान् ज्ञाता राजा अपनी प्रजा के लिए अन्न-धन आदि पदार्थों के न्यायसंगत वितरण की व्यवस्था करता है। सुख चाहने वाला कोई भी राष्ट्र गौ आदि उपकारी पशुओं को अपना आर्थिक आधार बनाता है और इसी क्रम में सबसे निरापद और शुद्ध पेशीय ऊर्जा का उपयोग करता है। इसके अतिरिक्त उस ऊर्जा का ही उपयोग करता है, जो पूर्णतः निरापद हो। राजा अपनी प्रजा के लिए माता-पिता के समान हितकारी होना चाहिए, जो प्रजा के लिए भय का कारण बने, उसे नष्ट कर देवे। वह राजा पर्यावरण शोधनार्थ गोघृत आदि उत्तम पदार्थों से नित्य यज्ञ भी करने और कराने वाला हो एवं जिस प्रकार घृत की आहुति से अग्नि तेजस्वी होने लगता है, उसी प्रकार राजा भी ब्रह्मचर्यादि व्रतों और योगाभ्यास आदि से तेजयुक्त होवे।

आध्यात्मिक भाष्य—

(वानस्पत्यः) प्राणविद्या का ज्ञाता और प्राणों को वश में रखने वाला

योगाभ्यासी (उस्रियाभिः, संभृतः) वेद की ऋचाओं के द्वारा स्वयं को सम्यक् रूप से पुष्ट करता है और वह निरन्तर वेद की ऋचाओं में ही स्थित होता है। (विश्वगोत्र्यः) वह किसी कुल वा वंश विशेष का न होकर प्राणिमात्र के हित में ही लगा रहता है। (अमित्रेभ्यः, प्रत्रासम्, वद) वह योगी योगसाधना में बाधक चित्त वृत्तियों को अपनी अन्तश्चेतना द्वारा प्रतिबन्धित रहने का आदेश दे अर्थात् मन में आने वाले विकारों को बलपूर्वक प्रतिबन्धित करने का प्रयास करे। (आज्येन, अभिघारितः) [आज्यम् = प्राणो वा आज्यम् (तै.सं.3.8.15.23), यज्ञो वा आज्यम् (तै.सं.3.3.4.1)] ऐसा योगी अपने प्राणायामादि तपों के द्वारा प्राण बल को बढ़ाता हुआ परब्रह्म परमात्मा के साथ संगत होने का प्रयत्न करते हुए परहित की भावना से स्वयं को निरन्तर सिंचित करता रहे अथवा वह यज्ञस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के प्रति प्रीति भावना से स्वयं को निरन्तर सिंचित करता रहे।

भावार्थ— प्राण को वशीभूत करने वाला योगी सदैव वेद की ऋचाओं में रमण करता है। वह प्राणिमात्र के आत्मा में निरन्तर ईश्वर का वास अनुभव करता हुआ सदैव उनका हितचिंतन करता है। उसके मन में जब भी कोई विकार उत्पन्न होने वाला होता है, तब वह अपने मन को आदेश देकर बुरे विचारों को बाहर ही धकेल देता है। योगी का आत्मबल बहुत प्रबल होता है, क्योंकि वह सदैव ही स्वयं को ईश्वराधीन अनुभव करता है।

इन भाष्यों को पढ़कर कोई भी वेदविरोधी यह बताये कि उसको इन भाष्यों पर क्या आपत्ति है?

* * * * *

आक्षेप—

Atharva Veda 4.31.7

"Let the King [Varuna] and Manyu, the warm emotion give us the wealth of both kinds–earned and gathered.

Let our enemies overwhelmed with terror in their mind and spirit and defeated in their design run away."

—Tr. Vaidyanath Shastri.

Yaska Acharya also writes about terror, Nirukta 10.21... These are hemistichs. Like a spear hurled, it inspires terror (among enemies) or courage (among friends)...

यहाँ भी आक्षेपकर्त्ता ने वेद में शत्रुओं को आतंकित करने तथा भक्तों को धनादि देने का आरोप लगाया है।

उत्तर— हम पूर्व में यह समझा चुके हैं कि वैदिक संस्कृति में चोर, डाकू, लुटेरे, दुराचारी और अन्यायकारी लोगों को ही दुष्ट और शत्रु कहा गया है। वस्तुत: ऐसे लोग मानवता के शत्रु होते हैं, जिन्हें अवश्य ही दण्ड देना चाहिए। यहाँ आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद भी पूर्व अनुवादों की भाँति अति सामान्य और अस्पष्ट है, परन्तु

उनके भाव समझने के लिए आपको वैदिक संस्कृति से निष्पक्षतापूर्वक परिचित होना पड़ेगा और हमारे द्वारा अब तक किये गये समाधान को भी बुद्धि और हृदय में बिठाना पड़ेगा। इस अनुवाद में आपको क्या दोष दिखाई दिया?

इस मन्त्र पर हम अपने ढंग से विचार करते हैं—

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्॥

[अथर्व.4.31.7]

इसका ऋषि ब्रह्मास्कन्द है। [ब्रह्मा = बलं वै ब्रह्मा (तै.सं.3.8.5.2)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऐसी कुछ विशेष ऋषि रश्मियों से होती है, जो उपयोगी बलों को गति प्रदान करतीं अर्थात् उन्हें समृद्ध करतीं और अनुपयोगी अथवा बाधक बलों को अवशोषित कर लेती हैं अर्थात् उन्हें निष्क्रिय कर देती हैं। इसका देवता मन्यु और छन्द जगती है। 'मन्यु' के विषय में महर्षि यास्क का कथन है—

मन्युः मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा मन्यन्त्यस्मादि-षवः (निरु.10.29)। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि के प्रभाव से अनिष्ट एवं बाधक पदार्थों को नष्ट करने वाली रश्मियाँ आकाश में दूर-दूर तक स्पन्दित होने लगती हैं और सम्पूर्ण पदार्थ में गौर वर्ण की उत्पत्ति वा समृद्धि होने लगती है। इसका भाष्य इस प्रकार है—

आधिदैविक भाष्य—

(वरुणः, च, मन्युः) [वरुणः = स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य (= अग्नेः) वारुणं रूपम् (ऐ.ब्रा.3.4.), यः प्राणः स वरुणः (गो.उ.4.11), अपानो वरुणः (श.ब्रा.8.4.2.6), व्यानो वरुणः (श.ब्रा.12.9.1.16)] इस ब्रह्माण्ड

में जहाँ भी अति तीक्ष्ण अग्नि विद्यमान होता है, वहाँ प्राण, अपान एवं व्यान का त्रिक सूक्ष्म बाधक पदार्थों को नष्ट करने के लिए तेजस्वी हो उठता है, यह त्रिक पदार्थ को सम्पीडित और संघनित भी करता है। (संसृष्टम्, समाकृतम्, उभयम्, धनम्) दोनों प्रकार के अर्थात् अच्छे प्रकार से मिश्रित सूक्ष्म पदार्थ एवं अच्छे प्रकार से आकार को प्राप्त कर चुके पदार्थों अर्थात् मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थों के द्वारा (अस्मभ्यम्, धत्ताम्) इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियों को धारण कराता है।

(पराजितासः) जिन बाधक व अनिष्ट पदार्थों को यह त्रिक रूप रश्मि समूह पराजित कर चुका होता है, उनके (हृदयेषु) [हृदयम् = आत्मा वै मनो हृदयम् (श.ब्रा.3.8.3.8), हृदयं वै स्तोमभागाः (श.ब्रा.8.6.2.15)] अन्दर विद्यमान सूत्रात्मा वायु एवं अन्य रश्मियों में (भियः, दधानाः) अनेक प्रकार के तीव्र कम्पनों को उत्पन्न कर देता है, जिससे (शत्रवः, अप, नि, लयन्ताम्) वे बाधक वा हिंसक पदार्थ खण्ड-खण्ड होकर सुदूर आकाश में लीन हो जाते हैं अर्थात् सूक्ष्म भागों में परिणत होकर अशक्तरूप में आकाश तत्त्व में छिप जाते हैं।

भावार्थ— इस ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी तीव्र ऊष्मा विद्यमान होती है, वहाँ सभी बाधक और अनिष्ट पदार्थ छिन्न-भिन्न वा नष्ट हो जाते हैं। वे छिन्न-भिन्न हुए पदार्थ आकाश तत्त्व में विलीन हो जाते हैं। सूक्ष्म पदार्थों का परस्पर संलयन भी उच्च तापयुक्त अवस्था में ही होता है।

आधिभौतिक भाष्य— (वरुणः, च, मन्युः) विद्वान् सज्जनों के द्वारा वरणीय, दुष्ट जनों को बाँधने वाला एवं अपराधियों पर क्रोध करने वाला श्रेष्ठ राजा (संसृष्टम्) राष्ट्र में उत्पन्न अन्नादि भोज्य पदार्थ एवं खनिज

आदि विभिन्न प्रकार के पदार्थ (समाकृतम्) प्रजा से संगृहीत किये गये कर (उभयम्, धनम्) इन दोनों प्रकार के धनों को (अस्मभ्यम्, धत्ताम्) हम प्रजाजनों को समुचित रूप से प्रदान करे। (पराजितासः, शत्रवः) वह पराजित हुए दुष्ट शत्रुओं के (हृदयेषु, भियः, दधानाः) हृदयों में भय उत्पन्न करता है, जिससे (अप, नि, लयन्ताम्) वे शत्रु भागकर दूर चले जाते हैं, फिर कभी वापिस नहीं लौटते अथवा वे शत्रुता के व्यवहार को ही सर्वथा त्याग देते हैं।

भावार्थ— किसी भी राष्ट्र का राजा विद्वान् सदाचारियों द्वारा ही चुना जाना चाहिए। ऐसे राजा का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति की वास्तविक स्वामिनी प्रजा को ही समझे और उसे प्रजा के कल्याण के लिए ही व्यय करे। वह राजा अपराधियों एवं राष्ट्र व समाज विरोधी तत्त्वों एवं विदेशी शत्रुओं को यथापराध कठिन दण्ड देवे, जिससे वे राष्ट्र को कोई हानि न पहुँचा सकें।

आध्यात्मिक भाष्य— (वरुणः, च, मन्युः) सबका वरणीय सर्वोत्कृष्ट मन्युरूप परमेश्वर (संसृष्टम्) हमारे क्रियमाण कर्मों (समाकृतम्) एवं संचित कर्मों (उभयम्, धनम्, अस्मभ्यम्, धत्ताम्) दोनों के अनुसार हमें सांसारिक पदार्थ और बुद्धि आदि इन्द्रियाँ प्रदान करता है। (हृदयेषु, भियः, दधानाः) वह परमेश्वर नाना प्रकार के पाप कर्मों के प्रति पवित्र हृदय वाले मनुष्यों के हृदयों में भय, लज्जा, शंका आदि उत्पन्न करता है, (पराजितासः, शत्रवः) जिससे नाना प्रकार के पापरूप शत्रु पराजित होकर (अप, नि, लयन्ताम्) दूर चले जाते हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में परमेश्वर से बढ़कर कोई भी श्रेष्ठ और उपास्य सत्ता नहीं है। वह ईश्वर अपने न्यायानुसार हमें इस जन्म तथा पूर्व जन्मों

में किये गये कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है। जिन मनुष्यों का अन्तःकरण पवित्र और शान्त होता है, उनके हृदय में परमात्मा कोई भी अनुचित कार्य करने की इच्छा करते समय भय, लज्जा और शंका उत्पन्न करता है, जिससे वे पापकर्म करने से बचे रहते हैं। यद्यपि यह भय, लज्जा और शंका सभी मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होती है, परन्तु अविद्यादि दोषों से ग्रस्त दुरात्मा एवं अशान्तात्मा उनको अनुभव नहीं कर पाते। इस कारण हमने यहाँ पवित्र अन्तःकरण वालों में भय, लज्जा, शंका आदि का होना कहा है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह विद्या का अभ्यास करता हुआ उपासना के द्वारा अपने अन्तःकरण को पवित्र और शान्त रखने का प्रयास निरन्तर करता रहे, जिससे परमेश्वर की प्रेरणा के द्वारा उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सम्यक् बोध होता रहे।

कहिए सुलेमान रजवी! आपको इस मन्त्र में कहाँ हिंसा दिखाई दी? आप तो अनुवादकों के भी आशय को नहीं समझ पाते हैं और काकवत् चेष्टा करके साफ-सुथरी त्वचा में भी घाव करने का प्रयास करते हैं। आपने जो निरुक्त का उद्धरण दिया है, वह भी केवल अनुवाद ही है। यह किस अंश का अनुवाद है, यह भी आपको ज्ञात है क्या, नहीं कह सकते। चलिये कोई बात नहीं, हम आपको बता देते हैं कि आपने निम्नलिखित अंश के अनुवाद का भाग उद्धृत किया है। निरुक्त का वह अंश इस प्रकार है—

"सेनेव सृष्टा। भयं वा बलं वा दधाति। अस्तुरिव दिद्युत्त्वेषप्रतीका भयप्रतीका। बलप्रतीका यशःप्रतीकाः। महाप्रतीका दीप्तप्रतीका वा।"

महर्षि यास्क का यह कथन 'सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेष-प्रतीका' (ऋग्वेद 1.66.4) का भाष्य है। इसकी व्याख्या आप जैसों को

समझ में आने वाली नहीं है।

यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्॥

[ऋग्वेद 1.66.4]

इस मन्त्र पर हमारी आधिदैविक व्याख्या (निरुक्त के अनुसार) इस प्रकार है—

इस ऋचा का ऋषि पराशर है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मियों की उत्पत्ति हिंसक पदार्थों की नाशक वज्र रश्मियों से होती है। इसका देवता अग्नि तथा छन्द विराट् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विविध रूपों वाले नीलवर्ण की उत्पत्ति व समृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य—

(सेना, इव, सृष्टा, अमम्, दधाति, अस्तुः, न, दिद्युत्, त्वेष, प्रतीका) 'सेनेव सृष्टा भयं वा बलं वा दधाति अस्तुरिव दिद्युत्त्वेषप्रतीका भयप्रतीका बलप्रतीका यशःप्रतीकाः महाप्रतीका दीप्तप्रतीका वा' वह यमरूप विद्युत् अग्नि प्रेरित की हुई सेना के समान विभिन्न बाधक पदार्थों को भयभीत अर्थात् कम्पित करता है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार युद्ध के लिए प्रेरित सेना शत्रु को भयभीत करती है, उसी प्रकार तीव्र अग्नि उस बाधक वा हिंसक पदार्थ को कम्पायमान कर देता है। इसके साथ ही जिस प्रकार किसी राजा की सुदृढ़ सेना उस राजा वा राष्ट्र को बल प्रदान करती है, उसी प्रकार अग्नितत्त्व विभिन्न संयोज्य कणों को समुचित बल प्रदान करता है। यहाँ उपमावाची 'इव' पद को निरर्थक मानने पर अर्थ इस प्रकार होगा—

अग्नि की तीक्ष्ण किरणों की सेना अर्थात् समान गति और बल से गमन करने वाली तीक्ष्ण किरणें उत्पन्न होते ही बाधक एवं हिंसक पदार्थों में तीव्र कम्पन कराने लगती हैं। वे तीक्ष्ण किरणें संयोज्य कणों को यजन कर्म करने के लिए उपयुक्त बल भी प्रदान करती हैं। वे किरणें प्रक्षेपक बलों से [दिद्युत् = विच्छेदिका (म.द.भ.)] युक्त पदार्थों के समान विभिन्न कणों को विखण्डित करने वाली होती हैं। वे दीप्तियों को दर्शाने वाली, कम्पन कराने वाली, बल को उत्पन्न करने वाली, तेज को उत्पन्न करने वाली, व्यापक रूप से दिखाई देने वाली और सबको प्रकाशित करने वाली होती हैं। ये सभी गुण तीव्र ऊर्जा वाली तरंगों के बतलाए गए हैं।

(यमः, ह, जातः, यमः, जनित्वम्, जारः, कनीनाम्, पतिः, जनीनाम्) 'यम इव जातः यमो जनिष्यमाणः जारः कनीनाम् जरयिता कन्यानाम् पतिर्जनीनाम् पालयिता जायानाम् तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति' वह सबका नियन्त्रक अग्नि निश्चय करके वायुतत्त्व से उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति पूर्व खण्ड में वर्णित इन्द्र रूप यम के समान ही होती है अथवा यमरूप वायु से ही इसकी उत्पत्ति होती है। सृष्टि के सभी कण आदि पदार्थ यमरूप अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं और निरन्तर इसी प्रकार उत्पन्न होते रहेंगे। यह अग्नितत्त्व कन्या अर्थात् आकर्षण और दीप्तियुक्त तरंगों, जिनके विषय में निरुक्त खण्ड ४.१५ पठनीय है, को जीर्ण करता है। यहाँ आकर्षण एवं दीप्तियुक्त किरणों का तात्पर्य उन सूक्ष्म कणों से है, जो कणों के साथ तरंग रूप व्यवहार भी करते हैं। ऐसे कण वर्तमान भौतिकी में मूल कण कहे जाते हैं। इनको अग्नि कैसे जीर्ण करता है, यह प्रश्न गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

यहाँ जीर्ण का अर्थ पुराना नहीं मानना चाहिए, बल्कि इसका अर्थ

दीप्तियुक्त मानना चाहिए। यह पद 'जॄ वयोहानौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। मन्त्र में 'जारः' पद है, वह भी इसी धातु से व्युत्पन्न होता है। इसी पद के अर्थ करने में 'जीर्णः' पद का प्रयोग किया गया है। इस धातु को ग्रन्थकार स्तुतिकर्मा बताते हैं। (देखें— खण्ड १०.८) इस कारण जारः पद का अर्थ प्रकाशक होता है, न कि किसी पदार्थ की आयु को घटाने वाला। यह सर्वविदित है कि अग्नि ही सभी पदार्थों का प्रकाशक है, इसलिए इसे यहाँ कमनीय तरंगों का प्रकाशक कहा है। इस सृष्टि में जो कोई भी पदार्थ प्रकाशयुक्त है, उसका कारण अग्नि ही है। इसको जनी अर्थात् उत्पन्न पदार्थों का पति भी कहा है। इसका कारण यह है कि अग्नि ही पृथिवी एवं आपः आदि पदार्थों का पालक एवं रक्षक होता है।

यह सामान्य बात है कि बिना अग्नि अर्थात् बिना ऊर्जा के वर्तमान भौतिकी में द्रव्य कहे जाने वाले किसी भी पदार्थ का अस्तित्व सम्भव नहीं है। ऊर्जा से ही इन पदार्थों की उत्पत्ति होती है और इसी के कारण किसी भी कण आदि पदार्थ के अस्तित्व की रक्षा भी होती है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'जनी' का अर्थ 'जाया' किया है। इसका अर्थ यह है कि अग्नि आपः एवं पृथिव्यादि कणों के सापेक्ष पुरुषरूप व्यवहार करता है, इस कारण वह स्त्रीरूप आपः एवं पृथिव्यादि कणों का पालक और संरक्षक होता है। इसका कारण यह है कि अग्नि के बिना इन दोनों पदार्थों का न केवल अस्तित्व असम्भव है, अपितु उनसे किसी भी प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति भी असम्भव है।

यहाँ 'तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति' कथन का तात्पर्य यह है कि स्त्रीरूप कण आदि पदार्थ यजन कर्म के द्वारा ही अग्नि प्रधान होते हैं। हमारे मत में यहाँ ग्रन्थकार का आशय यह है कि स्त्री संज्ञक पदार्थ जब यजनशील होते हैं, उस समय वे विशेष ऊर्जायुक्त होते हैं अर्थात् दो कणों

के संयोग के समय सहसा उन कणों की ऊर्जा वा गति विशेष रूप से बढ़ जाती है, इसी को यहाँ स्त्रीरूप कणों का अग्नि प्रधान होना कहा गया है।

यहाँ हम **आधिभौतिक भाष्य** ऋषि दयानन्द का ही उद्धृत कर रहे हैं, जो इस प्रकार है—

पदार्थः — (सेनेव) यथा सुशिक्षिता वीरपुरुषाणां विजयकर्त्री सेनास्ति तथाभूतः (सृष्टा) युद्धाय प्रेरिता (अमम्) अपरिपक्वविज्ञानं जनम् (दधाति) धरति (अस्तुः) शत्रूणां विजेतुः प्रक्षेप्तुः (न) इव (दिद्युत्) विच्छेदिका (यमः) नियन्ता (ह) किल (जातः) प्रकटत्वं गतः (यमः) सर्वोपरतः (जनित्वम्) जन्मादिकारणम् (जारः) हन्ता सूर्य्यः (कनीनाम्) कन्येव वर्त्तमानानां रात्रीणां सूर्य्यादीनां वा (पतिः) पालयिता (जनीनाम्) जनानां प्रजानाम्।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। मनुष्यैर्विद्यया सम्यक् प्रयत्नेन यथा सुशिक्षिता सेना शत्रून् विजित्य विजयं करोति। यथा च धनुर्वेदविदः शत्रूणामुपरि शस्त्रास्त्राणि प्रक्षिप्यैतान्विच्छिद्य प्रलयं गमयन्ति तथैवोत्तमः सेनाऽधिपतिः सर्वदुःखानि नाशयतीति बोद्धव्यम्।

पदार्थ— हे मनुष्यो! तुम लोग जो सेनापति (यमः) नियम करने वाला (जातः) प्रकट (यमः) सर्वथा नियमकर्त्ता (जनित्वम्) जन्मादि कारण-युक्त (कनीनाम्) कन्यावत् वर्त्तमान रात्रियों के (जारः) आयु का हननकर्त्ता सूर्य के समान (जनीनाम्) उत्पन्न हुई प्रजाओं का (पतिः) पालनकर्त्ता (सृष्टा) प्रेरित (सेनेव) अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुई वीर पुरुषों की विजय करने वाली सेना के समान (अस्तुः) शत्रुओं के ऊपर अस्त्र-शस्त्र चलाने वाले (त्वेषप्रतीका) दीप्तियों के प्रतीति करने वाले (दिद्युन्न)

बिजुली के समान (अमम्) अपरिपक्व विज्ञानयुक्त जन को (दधाति) धारण करता है, उसका सेवन करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। मनुष्यों को चाहिये कि विद्या से अच्छे प्रयत्न द्वारा जैसे की हुई उत्तम शिक्षा से सिद्ध की हुई सेना शत्रुओं को जीत कर विजय करती है, जैसे धनुर्वेद के जानने वाले विद्वान् लोग शत्रुओं के ऊपर शस्त्र-अस्त्रों को छोड़ उनका छेदन करके भगा देते हैं, वैसे उत्तम सेनापति सब दुःखों का नाश करता है, ऐसा तुम जानो।

आध्यात्मिक भाष्य—

(सृष्टा, त्वेषप्रतीका, सेना, इव) [त्वेषप्रतीका = भयप्रतीका बलप्रतीका यशःप्रतीका महाप्रतीका दीप्तप्रतीका (निरु.10. 21)] कुशलता-पूर्वक सुसज्जित बल, भय और तेजस्विता की प्रतीक सेना के समान (यमः, ह, जातः) जितेन्द्रियता आदि गुणों से प्रसिद्ध विद्वान् (अमम्, दधाति) [अमः = गृहम् (म.द.ऋ.भा.5.56.3), अमं भयं बलं वा (निरु.10.21), अमा गृहनाम (निघं.3.4)] सबका आश्रयदाता एवं सभी बलों के देने वाले परमात्मा को धारण करता है। (अस्तुः, न, दिद्युत्) [अस्तुः = शत्रुनाम विजेतुः प्रक्षेप्तुः (ऋषि दयानन्द भाष्य)] वह योगनिष्ठ विद्वान् शत्रुओं को जीतने वाली सेना के समान अपने सभी दोषों को काट डालता है। (यमः, जनित्वम्, जारः) वह नियतात्मा योगी अपने जन्म-मरण के कारणरूप अविवेक को अपनी साधना के द्वारा निरन्तर जीर्ण करता जाता है। (कनीनाम्, जनीनाम्, पतिः) [कनीनः = कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (भ्वा.) धातोर्बाहु. ईनप्रत्ययः (वैदिक-कोष)] वह योगी ब्रह्मतेज का पान करता हुआ मनुष्य मात्र का अपने सदुपदेश के द्वारा संरक्षण करता है।

भावार्थ— जिस प्रकार से शत्रु को अपने बल और तेजस्विता से भयभीत

करने वाली सेना शत्रु को दूर भगा देती है, उसी प्रकार से योगनिष्ठ विद्वान् अपने सभी दोषों और पूर्वजन्म के संस्कारों को दग्धबीज करने में समर्थ होता है। ऐसा समर्थ वह योगी परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान और आनन्द को धारण करता हुआ परम लोक को प्राप्त होता है। ऐसा योगी पुरुष अपने सदुपदेश के द्वारा निरन्तर सभी प्राणियों के उपकार में भी संलग्न रहता है। बिना परोपकार के कोई भी व्यक्ति योगी नहीं बन सकता। जो कोई समाज से दान वा भिक्षा आदि प्राप्त करके अपना जीवनयापन करते हैं, वे समाज के ऋणी होते हैं और उस ऋण को चुकाए बिना यदि कोई केवल आत्मकल्याण हेतु सदैव योगसाधना ही करता रहता है, उसका योग कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए मुमुक्षु जनों को चाहिए कि समाज के ऋण से उऋण होने के लिए वे निरन्तर अपने सदुपदेश के द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण करने का प्रयास करते रहें।

इस प्रकरण पर क्या कोई बुद्धिमान् व्यक्ति आपत्ति कर सकता है?

* * * * *

आक्षेप—

Atharva Veda 5.20.4–5

"Let this war–drum victorious in the battle, loudly roaring and becoming the means of seizing whatever may be seized, be seen by all. Let this war–drum utter wonderful voice and let the army–controlling man capture the possessions of the enemies. Amid the conflict of the deadly weapons let the woman of enemy waked by the roar and afflicted run forward in her terror hearing the resounding and far reaching voice of the wardrum, holding her son in her hand."

—Tr. Vaidyanath Shastri.

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्॥ ५॥

दुन्दुभि वाद्य की स्पष्ट निकली हुई ध्वनि को सुनकर उसकी गर्जना से जागी हुई रिपु-स्त्रियाँ संग्राम में वीरों (पति) के मरने के कारण भयभीत होकर अपने पुत्रों का हाथ पकड़कर भाग जाएँ।

यहाँ भी पूर्ववत् आक्षेप किया गया है।

उत्तर— यहाँ जो मन्त्र उद्धृत किया है, इसका ऋषि ब्रह्मा है। [ब्रह्मा = प्राणदेवत्यो वै ब्रह्मा (ष.ब्रा.2.9)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि

की उत्पत्ति विभिन्न प्राण रश्मियों से होती है। विभिन्न बलों को उत्पन्न करने में जब प्राण रश्मियों की भूमिका होती है, उस समय ही यह छन्द रश्मि प्रकट होती है, विशेषकर अत्यन्त तीव्र भेदक बल उत्पन्न होते समय। इसका देवता दुन्दुभि है, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। इसका छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसका दैवत प्रभाव आक्षेप संख्या 3 में निर्दिष्ट मन्त्र के दैवत प्रभाव के समान है। इसके छान्दस प्रभाव से तीव्र बल उत्पन्न होते हैं और रक्तवर्णीय तेज भी उत्पन्न होने लगता है। इसका भाष्य इस प्रकार है—

आधिदैविक भाष्य— (दुन्दुभेः) दुन्दुभि संज्ञक पूर्वोक्त संयोजक ऊर्जा (प्रयताम्, वदन्तीम्) प्रकृष्ट रूप से पदार्थों को नियन्त्रित करने वाली तीव्र गतियुक्त (वाचम्) वाक् रश्मियों को (समरे, वधानाम्) हिंसक पदार्थों के संग्राम वा संघर्षण के समय (आमित्री, नारी) [नारी = यज्ञनाम (निघं.3.17), पुमांसो वै नरः स्त्रियो नार्यः (ऐ.ब्रा.3.34)] बाधक व असंयोज्य पदार्थों से घिरे हुए योषा रूप कण वा रश्मि आदि पदार्थ (घोषबुद्धा) तीव्र वाक् रश्मियों से सक्रिय हुई (नाथिता) [नाथिता पद 'नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याऽऽशीःषु' धातु से व्युत्पन्न होता है।] वृषारूप रश्मि वा कण आदि पदार्थों के द्वारा आकृष्ट व नियन्त्रित रहता हुआ (भीता) कम्पन करते हुए (आश्रृण्वति) अपने चारों ओर गमन करती हुई वाक् रश्मियों के कारण हलचल करता हुआ (पुत्रम्, हस्तगृह्य) [पुत्रम् = पुत्रो वै वीरः (श.3.3.1.12) प्राणा वै दश वीराः (श.ब्रा.12.8.1.22)] प्राणापानादि प्राण रश्मियों के हरणशील बलों को प्राप्त करके (धावतु) शुद्ध होकर अर्थात् बाधक व असंयोज्य पदार्थों से मुक्त होकर वृषा रूप पदार्थों की ओर गमन करने लगता है।

भावार्थ— इस सृष्टि में सदैव प्रकाशित और अप्रकाशित ऐसी तीक्ष्ण

रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, जो तीव्र ध्वनि उत्पन्न करती हुई बाधक पदार्थों पर प्रहार करती हैं और अप्रकाशित पदार्थ के बीच फँसे हुए प्रकाशित पदार्थ को मुक्त करा लेती हैं। ध्यातव्य है कि प्रकाशित पदार्थ दो प्रकार का होता है, जिनमें से प्रथम प्रकार का पदार्थ पुरुष के समान व्यवहार करता है। बाधक व असंयोज्य पदार्थों से मुक्त हुए ये पदार्थ परस्पर संयोग करके नाना प्रकार के पदार्थों की रचना करते हैं।

आधिभौतिक भाष्य— यहाँ आपने भी किसी का भाष्य हिन्दी में दिया है, जो कि भावार्थ रूप में ही है। आर्य विद्वान् पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने इसका भाष्य इस प्रकार किया है—

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्॥

[अथर्व.5.20.5]

भाषार्थः — (दुन्दुभेः) दुन्दुभि की (प्रयताम्) नियमयुक्त, (वदन्तीम्) गूंजती हुई (वाचम्) ध्वनि को (आशृण्वती) सुनती हुई, (घोषबुद्धा) गर्जन से जागी हुई, (नाथिता) अधीन हुई, (वधानाम्) मारू शस्त्रों के (समरे) समर में (भीता) डरी हुई (आमित्री) वैरी की (नारी) नारी (पुत्रम्) पुत्र को (हस्तगृह्य) हाथ में पकड़ कर (धावतु) भाग जावे।

भावार्थ— योद्धा लोग नियमपूर्वक दुन्दुभि बजावें, जिससे शत्रु लोग हार जावें और उनकी स्त्री आदि भी घर छोड़कर चली जावें।

इस भाष्य पर आपको क्या आपत्ति है? आपके कुरान में तो शत्रुओं की महिलाओं और बच्चों की लूट का विधान है और इस बर्बरतापूर्ण कामुकता का ताण्डव सारे संसार ने देखा है और इसी के कारण भारतवर्ष की हजारों क्षत्राणियाँ जीवित चिताओं में जलने को विवश हुई थीं। वह

तो आपको अच्छा लगता है ? यहाँ वेद तो केवल दुष्ट अन्यायकारियों के विरुद्ध ही युद्ध की अनुमति देता है और युद्ध भी अन्तिम विकल्प होता है। उस युद्ध के भी निश्चित नियम और मर्यादा होती है। इसी मर्यादा के कारण ही यहाँ स्त्रियों और बच्चों को युद्धस्थल से दूर भगाने के लिए कहा है, ताकि वे तो सुरक्षित रह सकें, उन्हें लूटने या मारने के लिए तो नहीं कहा। हाँ, यदि स्त्री भी हिंसक होकर युद्ध करे वा अत्याचार करे, तो उसे भी दण्डित करने का विधान है।

आध्यात्मिक भाष्य— (दुन्दुभेः) [दुन्दुभिः = परमा वा एषा वाग् या दुन्दुभौ (तै.ब्रा.1.3.6,2.3), दुन्दुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः (निरु.9.12)] सृष्टि के प्रारम्भ में वेद का उपदेष्टा, जिसमें परम वाक् अर्थात् वेद वाक् सदैव विद्यमान रहती है, उस परमात्मा से (प्रयताम्) अच्छी प्रकार व्यवस्थित हुई (वदन्तीम्) नाना प्रकार के छन्दों के रूप में उच्चरित व प्रकाशित हुई (वाचम्) वेदवाणी को (आशृण्वती) ब्रह्म में स्थित योगी का आत्मा सब ओर से अनुभव करता हुआ (घोषबुद्धा) उस वेदवाणी के घोष के द्वारा जाग उठता है अर्थात् जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में सोया हुआ मनुष्य उषाकाल होते ही जाग उठता है, उसी प्रकार वेदवाणी के घोष से अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा समाप्त होकर ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इसी को आत्मा का जागरण कहा गया है। (नाथिता) वह आत्मा परब्रह्म परमात्मा के सानिध्य से अलौकिक ऐश्वर्य को प्राप्त होता है।

(वधानाम्, समरे) [वध = बलनाम (निघं.2.9), वज्रनाम (निघं.2.20)। समरः = सम्+ऋ गतिप्रापणयोः धातोः 'ऋदोरप्' इत्यप् अथवा शम अव्यैक्लव्ये धातोर्बाहुलकात् औणादिक अरः प्रत्ययः (वैदिक कोष)] परमात्मा के साक्षात्कार से महान् आत्मबल को प्राप्त करने पर उस

प्रशान्तात्मा (भीता, आमित्री, नारी) से भयभीत होती हुई [नारी= नाराणामियं क्रिया (म.द.य.भा.5.22)] उसके अन्तःकरण में विद्यमान पूर्व अनिष्ट क्रियाएँ अर्थात् कर्म, जो ईश्वर से विमुख करने वाले होते हैं, (पुत्रम्, हस्तगृह्य, धावतु) वे अपने सन्तानरूप फलों को लेकर दूर भाग जाते हैं।

भावार्थ— जब कोई योगी योगसाधना करता है, तब उसे अन्तरिक्षस्थ वेद की ऋचाएँ परा व पश्यन्ती रूप में अनुभूत होती हैं। उन वेद की ऋचाओं का उत्पत्तिकर्त्ता वही परमेश्वर है, जो इस सृष्टि की उत्पत्ति करता है। उस वेदवाणी को सुनकर और उनके अर्थों का बोध करके योगी पुरुष परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पणयुक्त होकर उन्हीं में मग्न हो जाता है। उस समय योगी के चित्त में पूर्व जन्म के कुछ अवांछित संस्कारों और वासनाओं से उसका संघर्ष होने लगता है। इस संघर्ष में जो-जो भी अनिष्ट कर्मों के संस्कार एवं विचार विद्यमान होते हैं, वे सब अपने सम्भावित फलों के साथ दूर चले जाते वा नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार से धीरे-धीरे उस योगी के सभी पूर्व संस्कार दग्धबीज हो जाते हैं और वह योगी मुक्ति के पथ पर चल पड़ता है।

नोट— अब तक हमने सभी मन्त्रों का तीन प्रकार का भाष्य प्रस्तुत किया, परन्तु इस आक्षेपकर्त्ता की बौद्धिक दुर्बलता एवं पूर्वाग्रहग्रस्तता को देखते हुए अब हम उपलब्ध ऋषि दयानन्द वा आर्य विद्वानों के भाष्यों से ही समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। कहीं आवश्यक होने पर ही अपना भाष्य करेंगे, वह भी केवल आधिभौतिक भाष्य, क्योंकि आक्षेप भी आधिभौतिक भाष्य से सम्बन्धित हैं। अब आक्षेपों का उत्तर मात्र देना हमारा कर्त्तव्य होगा, न कि वेद के गम्भीर विज्ञान को उद्घाटित करना।

इसका कारण यह है कि दुर्बल बुद्धि वालों के लिए इतना परिश्रम करना हमें उचित प्रतीत नहीं होता। जो तीव्र बुद्धि व जिज्ञासु प्रवृत्ति के पाठक होंगे, वे हमारे इन पाँच आक्षेपों के उत्तर एवं भूमिका से ही वेद की गरिमा को समझ जायेंगे। अधिक ज्ञान के पिपासु हमारे अन्य ग्रन्थों, जिनकी हम चर्चा कर चुके हैं, को पढ़ सकते हैं उन्हें पढ़े बिना वेद का विज्ञान कदापि नहीं समझा जा सकता।

* * * * *

आक्षेप—

Rig Veda 1.103.6

"...The Hero, watching like a thief in ambush, goes parting the possessions of the godless."

—Tr. Ralph T.H. Griffith

उत्तर— यहाँ ये महाशय वैदिक ईश्वर को चोर बता रहे हैं और उसके लिए ग्रिफिथ के द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं, जैसे ग्रिफिथ कोई वेदों का बहुत बड़ा विद्वान् हो। जिन विदेशी भाष्यकारों का उद्देश्य ही वेद को बदनाम करना हो, उसे प्रमाण रूप में प्रस्तुत करना दुर्भावना का ही परिचायक है। आप लोगों को अपने चौथे और सातवें आसमान पर रहने वाले ईश्वर की लीलाएँ तो दिखती नहीं, इधर आरोप लगाने चले।

जहाँ तक स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती के अनुवाद का प्रश्न है, तो उन्होंने ईश्वर को नास्तिक और जनता के शोषक अर्थात् चोर, डाकू और ज्ञान के शत्रु से धन छीनकर ईमानदार लोगों को देने की बात कही है, उसको आपने चोरी कैसे बता दिया? मुस्लिम और ईसाई आक्रान्ता भारतवर्ष का धन लूटकर ले गये, क्या वह आपकी दृष्टि में अच्छा था? और दुष्ट से धन लेकर सज्जन को देना चोरी कैसे हो गया? ये संस्कार

आपके हो सकते हैं, हमारे नहीं।

अब हम यहाँ ऋषि दयानन्द का भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

भूरिकर्मणे वृषभाय वृष्णे सत्यशुष्माय सुनवा सोमम्।
य आदृत्या परिपन्थीव शूरोऽयज्वनो विभजन्नेति वेदः॥

[ऋग्वेद 1.103.6]

पदार्थः — (भूरिकर्मणे) बहुकर्मकारिणे (वृषभाय) श्रेष्ठाय (वृष्णे) सुखप्रापकाय (सत्यशुष्माय) नित्यबलाय (सुनवाम) निष्पादयेम (सोमम्) ऐश्वर्य्यसमूहम् (यः) (आदृत्य) आदरं कृत्वा (परिपन्थीव) यथा दस्युस्तथा चौराणां प्राणपदार्थहर्त्ता (शूरः) निर्भयः (अयज्वनः) यज्ञविरोधिनः (विभजन्) विभागं कुर्वन् (एति) प्राप्नोति (वेदः) धनम्।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। मनुष्यैर्यो दस्युवत् प्रगल्भः साहसी सन् चौराणां सर्वस्वं हृत्वा सत्कर्मणामादरं विधाय पुरुषार्थी बलवानुत्तमो वर्त्तते, स एव सेनापतिः कार्य्यः।

पदार्थ— हम लोग (यः) जो (शूरः) निडर शूरवीर पुरुष (आदृत्य) आदर सत्कार कर (परिपन्थीव) जैसे सब प्रकार से मार्ग में चले हुए डाकू दूसरे का धन आदि सर्वस्व हर लेते हैं, वैसे चोरों के प्राण और उनके पदार्थों को छीन-छान कर हर लेवे वह (विभजन्) विभाग अर्थात् श्रेष्ठ और दुष्ट पुरुषों को अलग-अलग करता हुआ उनमें से (अयज्वनः) जो यज्ञ नहीं करते उनके (वेदः) धन को (एति) छीन लेता, उस (भूरिकर्मणे) भारी काम के करने वाले (वृषभाय) श्रेष्ठ (वृष्णे) सुख पहुँचाने वाले (सत्यशुष्माय) नित्य बली सेनापति के लिये जैसे (सोमम्) ऐश्वर्य्य समूह को (सुनवाम) उत्पन्न करें, वैसे तुम भी करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। मनुष्यों को चाहिये कि जो ऐसा ढीठ है कि जैसे डाकू आदि होते हैं और साहस करता हुआ चोरों के धन आदि पदार्थों को हर सज्जनों का आदर कर पुरुषार्थी बलवान् उत्तम से उत्तम हो, उसी को सेनापति करें।

हम यहाँ कहना चाहेंगे कि सर्वप्रथम तो आप यज्ञ शब्द का अर्थ समझ लेवें, जिसे हम पूर्व में समझा चुके हैं। यहाँ कहा गया है कि जैसे कोई चोर बलपूर्वक किसी पथिक का धन लूट लेता है, वैसे ही वीर पुरुष को चाहिए कि वह चोर-डाकुओं के धन को बलपूर्वक छीन लेवे और जो परोपकारी सज्जन लोग हैं, उनका आदर करे और ऐसा वीर पुरुष ही सेनापति होवे। वर्तमान में भी तो न्यायप्रिय शासक चोरों के द्वारा चोरी किये गये धन का हरण करके जिसका धन चोरी हुआ है, उसको देते ही हैं अथवा वह धन राजकोष में उपयोग होता है और ऐसा अवश्य ही होना चाहिए। जब तक चोरों के धन को छीना नहीं जाएगा, तब तक चोरी-डाके जैसे अपराध बन्द भी नहीं होंगे।

यहाँ यज्ञकर्म न करने वाले एवं यज्ञविरोधी से धन छीनने की बात कही गयी है, वह उचित ही है, क्योंकि जो परोपकार नहीं करता अथवा राज्य को कर नहीं देता, वह चोर ही है, तब उसका धन राजा वा सेनापति छीन ले, तो यह उचित ही है, जिससे उस धन का राष्ट्रहित में उपयोग हो सके। हाँ, कोई चोर व्यक्ति अवश्य ही वेद के इस आदेश का विरोध करेगा। अब आपको सोचना है कि आपको क्या करना चाहिए?

* * * * *

आक्षेप—

Rig Veda 1.93.4 Agni and Soma, famed is that your. prowess wherewith ye stole the kine, his food, from Pani...

अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।

अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतञ्ज्योतिरेकं बहुभ्यः॥

हे अग्निदेव और सोमदेव! आपका वह पराक्रम उस समय ज्ञात हुआ, जब आपने 'पणि' से गौओं का हरण किया और 'बृसय' के शेष रक्षकों को क्षत-विक्षत किया। असंख्यों के लिये सूर्य प्रकाश का प्राकट्य किया।

यहाँ आपने ईश्वर को चोर बताया है।

उत्तर— यहाँ आपने जिनका भाष्य उद्धृत किया है, उनका नाम नहीं लिया। ये दोनों ही भाष्यकार अग्नि और सोम से गायों की चोरी करवा रहे हैं। एक ओर तो ये भाष्यकार अग्नि और सोम देव के द्वारा सूर्य के प्रकाश का प्रकट होना बताते हैं, फिर उसी सूर्य को प्रकट करने वाले से गाय की चोरी करवाते हैं। इसमें तो रजवी आपको भी बुद्धि से सोचना चाहिए। गायों को चुराने वाला कोई मनुष्य तो हो सकता है, कोई मांसाहारी जानवर भी हो सकता है, परन्तु सूर्य को बनाने वाली सर्व-शक्तिमती सत्ता गायों की चोरी करेगी, किसी के भोजन की चोरी करेगी,

ऐसा तो कोई गम्भीर मानसिक रोगी ही सोच सकता है।

अब हम इसका ऋषि दयानन्द का भाष्य यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।
अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतज्ज्योतिरेकं बहुभ्यः॥

[ऋग्वेद 1.93.4]

पदार्थः — (अग्नीषोमा) वायुविद्युतौ (चेति) विज्ञातं प्रख्यातमस्ति (तत्) (वीर्यम्) पृथिव्यादिलोकानां बलम् (वाम्) ययोः (यत्) (अमुष्णीतम्) चोरवद्धरतम् (अवसम्) रक्षणादिकम् (पणिम्) व्यवहारम् (गाः) किरणान् (अव) (अतिरतम्) तमो हिंस्तः। अवति-रतिरिति वधकर्मा (निघं.2.19) (बृसयस्य) आच्छादकस्य। वस आच्छादन इत्यस्मात् पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः। (शेषः) अवशिष्टो भागः (अविन्दतम्) लम्भयतम् (ज्योतिः) दीप्तिम् (एकम्) असहायम् (बहुभ्यः) अनेकेभ्यः पदार्थेभ्यः।

भावार्थः — मनुष्यैर्यावत्प्रसिद्धं तमस आच्छादकं सर्वलोकप्रकाशकं तेजो जायते तावत्सर्वं कारणभूतयोर्वायुविद्युतोः सकाशाद्भवतीति बोध्यम्।

पदार्थ— जो (अग्नीषोमा) वायु और विद्युत् (यत्) जिस (अवसम्) रक्षा आदि (पणिम्) व्यवहार को (अमुष्णीतम्) चोरते प्रसिद्धाप्रसिद्ध ग्रहण करते (गाः) सूर्य्य की किरणों का विस्तार कर (अवातिरतम्) अन्धकार का विनाश करते (बहुभ्यः) अनेकों पदार्थों से (एकम्) एक (ज्योतिः) सूर्य के प्रकाश को (अविन्दतम्) प्राप्त कराते हैं, जिनके (बृसयस्य) ढांपने वाले सूर्य का (शेषः) अवशेष भाग लोकों को प्राप्त होता है (वाम्) इनका (तत्) वह (वीर्य्यम्) पराक्रम (चेति) विदित है सब कोई जानते हैं।

भावार्थ— मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि जितना प्रसिद्ध अन्धकार को ढांप देने और सब लोकों को प्रकाशित करने हारा तेज होता है, उतना सब कारणरूप पवन और बिजुली की उत्तेजना से होता है।

यहाँ ऋषि दयानन्द ने वायु और विद्युत् के गुणों का वर्णन किया है। वस्तुतः यह वर्णन वेद में है। सूर्य अथवा किसी भी तारे के प्रकाश का मूल कारण वायु और विद्युत् है। इस बात को ऋषि दयानन्द के समय में संसार के बड़े-2 भौतिक वैज्ञानिक भी नहीं जानते होंगे। यहाँ वायु से तात्पर्य उस सूक्ष्म तत्त्व से है, जिससे फोटोन तथा मूल कणों का निर्माण होता है। वर्तमान विज्ञान की भाषा में इस पदार्थ की कुछ तुलना वैक्यूम एनर्जी और डार्क एनर्जी से कर सकते हैं। अब कोई वेद पर आक्षेप लगाने वाला अथवा ऋषि दयानन्द का उपहास करने वाला मुझे बताए कि क्या वह प्रकाश की उत्पत्ति और उत्सर्जन वा अवशोषण आदि में वैक्यूम एनर्जी और विद्युत् की भूमिका के बारे में इतना ज्ञान रखता है?

मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि आप अथवा कोई भी वेद-विरोधी शायद ही कुछ जानते हों। अब संसार भर के कथित धर्मग्रन्थों को मानने वाले बतायें कि उनके धर्मग्रन्थों में इस प्रकार की गम्भीर विद्या का कोई संकेत भी है? यहाँ 'अमुष्णीतम्' पद देखकर चोरी अर्थ ग्रहण कर लिया। ऋषि दयानन्द ने इसका अर्थ 'चोरवद्धर्त्तम्' किया है, जिसका अर्थ है— जैसे चोर चुपचाप किसी की वस्तु को उठाता है और किसी को उसका ज्ञान भी नहीं होता, वैसे ही सूर्यादि लोकों में विद्युत् और वायु रश्मियों की क्रियाएँ इस प्रकार से होती हैं कि उनको हम स्पष्टतः जान भी नहीं सकते। इसलिए इस प्रकार की उपमा दी गई है। आप आरोप लगाने से पहले थोड़ा तो बुद्धि से काम लेते, परन्तु क्या करें बुद्धि से काम तो बुद्धिमान् ही ले सकता है।

आपने इसी प्रकार के कुछ और उद्धरण दिये हैं, उनका उत्तर भी आप ऐसे ही समझ सकते हैं।

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

आक्षेप—

Atharva Veda 1.7.7

"O Agni, bring thou hitherward the Yatudhanas bound and chained. And afterward let Indra tear their heads off with his thunder–bolt."

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु॥

उत्पन्न हुआ है। हे अग्ने! तू हमारा दूत बनकर यातुधानों को विलाप करा॥ हे अग्ने! तू [यातुधानान्] दुष्टों को [उपबद्धान्] बांधे हुए अर्थात् बांधकर [इह आ वह] यहाँ ले आ। [अथ] और इन्द्र अपने वज्र से [एषां शीर्षाणि] इनके मस्तक [वृश्चतु] काट डाले।

यहाँ यह आक्षेप लगाया गया है कि वेद में गैर हिन्दुओं को राक्षस बता कर उनको मार डालने का विधान है।

उत्तर— आपने आरोप लगाया है कि हिन्दू ग्रन्थों में गैर हिन्दुओं को डेमन अर्थात् राक्षस बताया है, यह आपने कहाँ से जाना? वेद अथवा ऋषियों के किसी ग्रन्थ में हिन्दू शब्द ही नहीं है, न हिन्दू कोई धर्म है, बल्कि वैदिक सनातन धर्म ही ब्रह्माण्डवासियों का एकमात्र धर्म है। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में मानवाकृति वाले प्राणी का कई वर्गों में विभाजन किया गया है, जैसे मनुष्य, देव, गन्धर्व, राक्षस, असुर, किन्नर, नाग, गृध्र,

पक्षी, ऋक्ष, वानर आदि। आर्य भी कोई जाति नहीं रही, बल्कि 'आर्य' शब्द गुणवाचक है और 'दस्यु' शब्द भी गुणवाचक है।

वैदिक आचरण वाले व्यक्ति को आर्य कहते थे। इस देश में ऐसे ही धर्मात्मा मनुष्यों का वास होने से इस देश का नाम आर्यावर्त्त हो गया। कालान्तर में इस देश के निवासी आर्य कहलाने लगे, भले ही वे गुणों से आर्य न हों। इन्हें ही विदेशी हिन्दू कहने लगे, जो एक षड्यन्त्र का भाग था। दुर्भाग्यवश आज कोई राष्ट्रवादी कहाने वाला इस बात को समझने को तैयार नहीं है। महारानी मन्दोदरी रावण को आर्यपुत्र ही कहती थी। वानरवंशी महाराज बालि की धर्मपत्नी महारानी तारा भी अपने पति को आर्यपुत्र ही कहती थी। गृध्रवंशी क्षत्रिय जटायु, जो महाराज दशरथ के मित्र थे, को देवी सीता 'आर्य' शब्द से ही सम्बोधित कर रही थीं।

वस्तुतः ईश्वरीय ज्ञान वेद के अनुसार जीवन जीने वाले श्रेष्ठ पुरुष आर्य कहलाते थे, जो किसी भी वंश के हो सकते थे। इन वंशों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी होते थे। लंकेश रावण वेदों का विद्वान् होने पर भी आर्योचित आचरण से भ्रष्ट हो गया था, पुनरपि महारानी मन्दोदरी आदरार्थ अपने पति को आर्यपुत्र ही कहती थीं। यह तो हुई इतिहास की बात, लेकिन जहाँ तक वेद का प्रश्न है, तो वेद में सभी पद यौगिक हैं। इसलिए उसमें किसी व्यक्ति, वर्ग वा वंश आदि का उल्लेख नहीं है। जो इस यथार्थ को नहीं समझते, उन्हें वेद पर लेखनी नहीं चलानी चाहिए।

यहाँ दुष्ट व्यक्ति को यातुधान कहा गया है। यजुर्वेद 34.26 के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने परपदार्थ को अन्यायपूर्वक लेने वाले को यातुधान कहा है। यजुर्वेद 15.16 के भाष्य में परपीड़क अर्थात् दूसरे को पीड़ा देने वाले को यातुधान कहा है। प्राचीन ऋषियों का कथन है— यातुधान

हेतिः (मै.सं.2.8.10) अर्थात् हनन करने वाले हत्यारे को यातुधान कहते हैं। अब कोई वेदविरोधी यह बताये कि लुटेरे और हत्यारे को यदि बन्दी बनाकर न्यायालय में प्रस्तुत किया जाये और राजा अथवा न्यायाधीश उसे मृत्यु दण्ड दे, तब इसमें आपको क्या आपत्ति अनुभव हो रही है? यहाँ यातुधान किसी देशविशेष के निवासी को नहीं कहा, बल्कि दुष्ट व्यक्ति को ही यातुधान कहा है। इसलिए वेद सर्वहित के लिए दुष्ट को दण्ड देने का आदेश देता है, न कि किसी निरपराध को सताने का।

इस मन्त्र में 'अग्नि' और 'इन्द्र' दोनों ही शब्द न्यायाधीश अथवा राजा के लिए प्रयुक्त हैं। इन दोनों का कार्य बहुत संवेदनशील और जटिल होता है। जब ये किसी अपराधी को दण्ड, विशेषकर मृत्युदण्ड देते हैं, तब उस अपराधी के परिजन विलाप करते ही हैं, क्योंकि महात्मा विभीषण जैसे पवित्रात्मा और निष्पक्ष व्यक्ति विरले ही होते हैं, जो अधर्मी और अहंकारी राजा और अपने भाई रावण को त्यागकर धर्म की प्रतिमूर्ति मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का साथ देते हैं और लंका की प्रजा की रक्षा करते हैं।

दुर्भाग्य से प्रबुद्ध कहे जाने वाले, परन्तु नितान्त नासमझ लोगों ने महात्मा विभीषण को घर का भेदी बताकर 'घर का भेदी लंका ढहाये' की कहावत ही बना ली, जो आज लोकप्रसिद्ध है। ऐसे नासमझ समाज से यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि वह वेद की न्याय व्यवस्था को समझ सके। किसी भी पाठक को चाहिए कि वह किसी भी ग्रन्थ को पढ़ते समय लेखक अथवा उसके अनुवादक वा भाष्यकार के आशय को समझने का प्रयास करे, उसके पश्चात् ही लेखनी उठाने का साहस करे।

* * * * *

आक्षेप—

Yajur Veda 5.26

"By impulse of God Savitar I take thee with arms of Asvins, with the hands of Peahen.Thou art a woman. Here I cut the necks of Rakshasas away. Barley art thou. Bar off from us our haters, bar our enemies..."

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपिकृन्तामि।
यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय
त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥

हे अभ्रि (में अधिष्ठित देवसत्ता)! हम सविता से प्रेरित अश्विनीदेवों की भुजाओं से तथा पूषादेव के हाथों से आपको स्वीकार करते हैं। आप हमारे अनुकूल हों। गड्ढा खोदने के रूप में हम अब राक्षसों की गर्दन काटते हैं। उनका विनाश करते हैं। हे यव! (पृथक् करने के स्वभाव से युक्त) दुर्भाग्य से तथा शत्रुओं के समूह से आप हमें अलग करें। हे उदुम्बर वृक्ष की शाखे! (अग्रभाग) द्युलोक को हर्षित करने के लिए, (मध्यभाग) अन्तरिक्षलोक को प्रसन्न करने के लिए तथा (मूलभाग) पृथिवी को प्रसन्न करने के लिए हम आपका

प्रोक्षण करते हैं। हे यजुष्! इस जल से पितरों का निवास स्थान शुद्ध हो। हे कुश! आप पितरों के आवास स्थान हैं।

यहाँ भी आपने गैर हिन्दुओं को राक्षस बताकर उनकी गर्दन काटने का आरोप लगाया है।

उत्तर— आपने ये हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद वा भाष्य किसके दिये हैं, यह नहीं दर्शाया। यह भी आपकी एक चालबाजी का सूचक है। जहाँ किसी आर्यसमाजी विद्वान् का भाष्य अथवा अनुवाद है, उसके साथ उस अनुवादक अथवा भाष्यकार का नाम आपने दे दिया है, परन्तु जहाँ किसी अन्य का भाष्य अथवा अनुवाद है, वहाँ आपने नाम ही छुपा लिया है, यह कदापि ईमानदारी नहीं है।

हम यहाँ इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द सरस्वती का भाष्य उद्धृत करते हैं—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपिकृन्तामि।
यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय
त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥

[यजु.5.26]

पदार्थः — (देवस्य) सर्वानन्दप्रदस्य (त्वा) त्वां होमशिल्पाख्ययज्ञ-कर्त्तारम् (सवितुः) सकलोत्पादकस्येश्वरस्य (प्रसवे) यथा सृष्टौ तथा (अश्विनोः) प्राणापानयोः (बाहुभ्याम्) यथा बलवीर्याभ्यां तथा (पूष्णः) पुष्टिमतो वीरस्य (हस्ताभ्याम्) यथा प्रबलभुजदण्डाभ्यां तथा (आ) समन्तात् (ददे) गृह्णामि (नारि) नराणामियं शक्तिमती स्त्री तत्संबुद्धौ

(असि) भवति (इदम्) विश्वम् (अहम्) सभाध्यक्षः (रक्षसाम्) दुष्टकर्मकारिणां प्राणिनाम् (ग्रीवाः) शिरांसि (अपि) निश्चये (कृन्तामि) छिनद्मि (यवः) मिश्रणामिश्रणकर्त्ता (असि) वर्त्तसे (यवय) श्रेष्ठैर्गुणैः सह मिश्रय। दोषेभ्यश्च दूरीकारय। अत्र वा छन्दसीति वृद्ध्यभावः (अस्मत्) स्वेभ्यः (द्वेषः) ईर्ष्यादिदोषान् (यवय) दूरीकारय (अरातीः) शत्रून् (दिवे) सत्यधर्मप्रकाशाय (त्वा) त्वाम् (अन्तरिक्षाय) आकाशे गमनाय (त्वा) त्वाम् (पृथिव्यै) पृथिवीस्थपदार्थपुष्टये (त्वा) त्वाम् (शुन्धन्ताम्) पवित्रीकुर्वताम् (लोकाः) सर्वे (पितृषदनाः) यथा पितृषु ज्ञानिषु सीदन्ति तथा (पितृषदनम्) यथा विद्यावन्तो ज्ञानिनस्सीदन्ति यस्मिंस्तत्तथा (असि) अस्ति।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। मनुष्यैर्यथाक्रियं यथानुक्रमं विद्वदाश्रयं कृत्वा यज्ञमनुष्ठाय सर्वेषां शुद्धिः संपादनीया।

पदार्थ— हे विद्वान् मनुष्य! जैसे मैं (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करने और (देवस्य) सब आनन्द के देने वाले परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में (अश्विनोः) प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) बल और वीर्य तथा (पूष्णः) अतिपुष्ट वीर के (हस्ताभ्याम्) प्रबल प्रतापयुक्त भुज और दण्ड से अनेक उपकारों को (आददे) लेता वा (इदम्) इस जगत् की रक्षा कर (रक्षसाम्) दुष्टकर्म करने वाले प्राणियों के (ग्रीवाः) शिरों का (अपि) (कृन्तामि) छेदन ही करता हूँ तथा जैसे पदार्थों का उत्तम गुणों से मेल करता हूँ वैसे तू भी उपकार ले और (यवय) उत्तम गुणों से पदार्थों का मेल कर जैसे मैं (द्वेषः) ईर्ष्या आदि दोष वा (अरातीः) शत्रुओं को (अस्मत्) अपने से दूर कराता हूँ वैसे तू भी (यवय) दूर करा। हे विद्वान्! जैसे हम लोग (दिवे) ऐश्वर्य्यादि गुण के प्रकाश होने के लिये (त्वा) तुझ को (अन्तरिक्षाय) आकाश में रहने वाले

पदार्थ को शोधने के लिये (त्वा) तुझ को (पृथिव्यै) पृथिवी के पदार्थों की पुष्टि होने के लिये (त्वा) तुझ को सेवन करते हैं वैसे तुम लोग भी करो। जैसे (पितृषदनम्) विद्या पढ़े हुए ज्ञानी लोगों का यह स्थान (असि) है और जिस से (पितृषदनाः) जैसे ज्ञानियों में ठहर पवित्र होते हैं वैसे मैं शुद्ध होऊं तथा सब मनुष्य (शुन्धन्ताम्) अपनी शुद्धि करें और हे स्त्री! तू भी यह सब इसी प्रकार कर।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्यों को योग्य है कि ठीक-ठीक क्रियाक्रमपूर्वक विद्वानों का आश्रय और यज्ञ का अनुष्ठान करके सब प्रकार से अपनी शुद्धि करें।

इस भाष्य में कहीं कुछ ऐसा नहीं है, जिससे किसी व्यक्ति, वर्ग अथवा देश को लक्ष्य बनाकर उसके नाश करने की बात सिद्ध होती हो और दुष्टों के नाश के लिए ही संसार भर के सभ्य समाजों में न्यायपूर्ण दण्ड व्यवस्था पाई जाती है, जिसका कोई विरोध भी नहीं करता। दुष्ट को दण्ड न देना और सज्जन को संरक्षित न करना अराजक राष्ट्र की पहचान है, इसलिए दुष्ट को दण्ड देने का विधान न केवल ईश्वरीय ज्ञान वेद में विद्यमान है, अपितु संसार भर की राजव्यवस्थाएँ भी इसी सिद्धान्त पर कार्य करती हैं। ऐसा नहीं करने पर सम्पूर्ण संसार में अराजकता फैल जाएगी।

जहाँ तक आपके द्वारा उद्धृत अनुवाद की बात है, तो मैं दृढ़ता से कह सकता हूँ कि न तो वह स्पष्ट व उचित है और न वह आपकी समझ में ही आया है। केवल राक्षस शब्द देखकर आरोप लगा दिया है।

* * * * *

आक्षेप—

Rig Veda 6.26.3

"Thou didst impel the sage to win the daylight, didst ruin Susna for the pious Kutsa.The invulnerable demon's head thou clavest when thou wouldst win the praise of Atithigva."

हे इन्द्र! अन्न-लाभ करने के लिए तुम भार्गव ऋषि को प्रेरित करो। हव्यदाता कुत्स के लिए तुमने शुष्णासुर का छेदन किया था। तुमने अतिथिग्व (दिवोदास) को सुखी करने के लिए शम्बरासुर का शिरच्छेदन किया था। वह अपने को मर्महीन (दुर्भेद्य) समझता था।

Rig Veda 8.14.13

"With waters' foam thou torest off, Indra, the head of Namuci, Subduing all contending hosts."

यहाँ भी आप वेद में असुरों को मारने के विधान का आरोप लगाते हैं।

उत्तर— यहाँ आपने फिर चालबाजी कर दी, क्योंकि यहाँ भी अनुवादक और भाष्यकार का नाम नहीं दिया। ये अनुवादक और भाष्यकार दोनों ही नितान्त अनाड़ी हैं। जो शब्द वेद में हैं ही नहीं, उन्हें भी असुर वा ऋषि बनाकर यहाँ लाकर खड़ा कर दिया।

इस मन्त्र में कहीं भार्गव ऋषि का नाम नहीं है, परन्तु यहाँ उन्हें अन्नलाभ के लिये प्रेरित करने की बात लिख दी। 'शुष्णम्' का शुष्णासुर बना दिया और शम्बरासुर कहीं से लाकर खड़ा कर दिया और इन्द्र द्वारा उसका सिर कटवा दिया। जहाँ ऐसे मूढ़मति भाष्यकार होंगे, वहाँ सुलेमान रजवी तो वेद का उपहास करने आ ही जायेगा। यहाँ सुलेमान रजवी को ऋषि दयानन्द का भाष्य दिखाई नहीं दिया।

अब हम यहाँ ऋषि दयानन्द का भाष्य उद्धृत करते हैं—

त्वं कविं चोदयोऽर्कसातौ त्वं कुत्साय शुष्णं दाशुषे वर्क्।
त्वं शिरो अमर्मणः पराहन्नतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन्॥ ३॥

[ऋग्वेद 6.26.3]

पदार्थः — (त्वम्) (कविम्) विद्वांसम् (चोदयः) प्रेरय (अर्कसातौ) अन्नादिविभागे (त्वम्) (कुत्साय) वज्राय (शुष्णम्) बलम् (दाशुषे) दात्रे (वर्क्) छिनत्सि (त्वम्) (शिरः) (अमर्मणः) अविद्यमानानि मर्माणि यस्मिँस्तस्य (परा) (अहन्) दूरीकुर्याः (अतिथिग्वाय) योऽतिथीना-गच्छति तस्मै (शंस्यम्) प्रशंसनीयं कर्म (करिष्यन्)।

भावार्थः — राजा विद्याविनयादिशुभगुणान् राजकार्येषु योजयेत्, उन्नतिञ्च करिष्यन् विद्यादीनां दाता भूत्वा प्रशंसां प्राप्नुयात्।

पदार्थ— हे तेजस्विराजन्! (त्वम्) आप (अर्कसातौ) अन्न आदि के विभाग में (कविम्) विद्वान् की (चोदयः) प्रेरणा करिये और (त्वम्) आप (कुत्साय) वज्र के लिये और (दाशुषे) दान करने वाले के लिये (शुष्णम्) बल को (वर्क्) काटते हो और (त्वम्) आप (अमर्मणः) नहीं विद्यमान मर्म जिसमें उसके (शिरः) शिर को (परा, अहन्) दूर करिये और (अतिथिग्वाय) अतिथियों को प्राप्त होने वाले के लिये

(शंस्यम्) प्रशंसा करने योग्य कर्म को (करिष्यन्) करते हुए वर्तमान हो इससे आप सत्कार करने योग्य हो।

भावार्थ— राजा विद्या और विनय आदि श्रेष्ठ गुणों से युक्त जनों को राजकार्यों में युक्त करे और उन्नति को करता हुआ विद्या आदि का दाता होकर प्रशंसा को प्राप्त होवे।

यह भाष्य सामान्य जन के लिए निश्चित ही दुर्बोध्य है। समयाभाव के कारण ऋषि दयानन्द के भाष्य में कहीं-कहीं क्लिष्टता व अस्पष्टता आ गयी है। यहाँ हम इसे स्पष्ट व सरल करने का प्रयास करते हैं—

यहाँ प्रतापी राजा से प्रार्थना की गयी है कि वह अपने विद्वान् मन्त्रियों को ऐसी प्रेरणा करे कि वे सम्पूर्ण राष्ट्र के नागरिकों में अन्न व धन आदि का समुचित वितरण करें। कभी ऐसा न होने पावे कि कुछ लोग अत्यन्त सम्पन्न हो जावें और कुछ लोग अति निर्धनता भरे क्लेश को भोगने को विवश हो जावें। ऐसा करना स्वयं को अन्यायकारी के रूप में सिद्ध करता है। आज हमारे राष्ट्र वा विश्व में गरीबी एवं अमीरी के बीच जो अत्यन्त दूरी है, वह राष्ट्रों व विश्व के नीतिनिर्धारकों के अन्यायकारी अथवा अज्ञानी होने का जीवन्त प्रमाण है।

वह राजा दूसरा कार्य यह करे कि दुष्टों, जो दूसरों के धन आदि का शोषण करते हैं, चोरी, लूट व घूसखोरी करते हैं अथवा उन्हें नाना प्रकार के झूठ, छल व कपट से लूटते हैं, को दण्ड देने के लिए उन अपराधियों के शुष्ण अर्थात् शोषक बल को नष्ट कर दे। वर्तमान में बड़े-बड़े नेता, पूँजीपति, राज कर्मचारी, अधिकारी वा व्यापारी नाना हथकण्डे अपनाकर प्रजा का शोषण करते हैं, राजा उन हथकण्डों को जड़ मूल से काट देवे, जिससे वे फिर कभी शोषण न कर सकें। जो धनबल के कारण शोषण

करते हैं, राजा उनकी सम्पत्ति का अधिग्रहण करके शोषितों के हित में प्रयोग करे।

जो व्यक्ति जनबल के कारण लूटते हैं, उनके जनबल को उनसे दूर करने का उपाय करे, उनके अनुयायियों में उनके अपराध को प्रचारित करके उन्हें अलग-थलग कर दे। जो कोई अपने पद के कारण नागरिकों का शोषण करता हो, तो उसे तत्काल पदच्युत कर दे। यदि कोई शारीरिक बल वा अस्त्र-शस्त्रादि के बल पर शोषण करता है, तो उसके अंगभंग करके उससे शस्त्रादि छीन ले। यहाँ 'शुष्णम् वर्क्' अर्थात् बल को काटने का यह लोकोपकारक अर्थ है। इसे शुष्णासुर कहाँ से बना डाला?

यहाँ दान करने वाले के लिए भी शोषण बल को काटने की बात कही गई है। इसका अर्थ है कि कोई दुष्ट व्यक्ति किसी दाता अर्थात् परोपकारी पुरुष का ही शोषण करने लगे, उसे परोपकार के कार्यों में दान न देने दे अथवा स्वयं ही उसका धन लूट ले, उसकी रक्षा के लिए भी इसी प्रकार शोषणकर्त्ता अपराधियों के बल को पूर्वोक्तानुसार नष्ट करने की बात की गयी है। इससे परोपकारी महानुभाव निर्विघ्न रूप से समाज व राष्ट्र की सेवा कर सकें। आगे कहा है कि जिनके मर्म स्थान न हों, उनका शिर काट कर फेंक दे। इसका भाव यह है जिस प्रकार शरीर में कुछ मर्म स्थान होते हैं, जिन पर चोट लगने से व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है। उसी प्रकार शोषणकर्त्ताओं को यदि पूर्वोक्त उपायों से दुर्बल न किया जा सके, तो ऐसे शोषकों का सिर काटना ही एकमात्र विकल्प रह जाता है।

आज अपने देश में कोई दण्ड व्यवस्था न होने से भारी अराजकता मची हुई है, जिससे करोड़ों नागरिक दुःखी हैं और कुछ लोग सत्ता, धन

आदि के मद में उनका भरपूर शोषण करके निरन्तर अधिकाधिक धनसम्पन्न हो रहे हैं। यह स्थिति समूची मानवता के लिए गम्भीर संकट उत्पन्न कर रही है।

यहाँ अनाड़ी भाष्यकार 'अतिथिग्व' पद से दिवोदास नामक किसी व्यक्ति का ग्रहण कर रहे हैं। इस पर क्या टिप्पणी करें? यह पद 'अतिथि + गम्लृ गतौ + ड्वः प्रत्यय' से व्युत्पन्न है। [देखें— वैदिक कोष, आचार्य राजवीर शास्त्री] अब कोई अतिथिग्व से दिवोदास बनाये, तो उसे क्या कहें? यहाँ ऋषि दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वही सत्य है। ध्यान रहे कि निरन्तर सत्योपदेश करने वाले भ्रमणशील आप्त विद्वान् पुरुष को अतिथि कहते हैं। इस विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है—

य: श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिर्भवति (ऐ.आ.1.1.1)

अर्थात् जो विद्या और श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा श्रेष्ठता को प्राप्त होता है, उसे अतिथि कहते हैं।

ऐसे अतिथि विद्वानों को प्राप्त होने वाले विद्या आदि धनों के लिए जो प्रशंसनीय व परोपकारी कार्य हैं, उन्हें राजा को भी करना चाहिए, तभी राजा सम्मान का अधिकारी होता है। इसका अर्थ यह है कि जैसे अतिथि वेदविद्या एवं श्रेष्ठ परोपकारक कर्मों के द्वारा अतिथि पद को प्राप्त करता है, वैसे राजा को भी बनना चाहिए। मूर्ख, छली-कपटी वा प्रमादी व्यक्ति को राजा कभी न बनावें।

इस मन्त्र का देवता इन्द्र होने से यह प्रकट होता है कि अपने विद्या, बल, तेज आदि से ऐश्वर्य को प्राप्त जितेन्द्रियतादि उत्तमोत्तम गुणों से युक्त व्यक्ति ही राजा बने और ऐसा इन्द्ररूप राजा ही इस प्रकार के कर्म करने

में समर्थ हो सकता है, अन्य नहीं।

अब वेदविरोधी विचारें कि इस मन्त्र का कैसा अनर्थ करके वेद पर प्रहार करने का पाप कर रहे हैं। इस एक मन्त्र को ही किसी राष्ट्र का प्रमुख अपने आचरण में ले आवे, तो उस राष्ट्र का कायापलट हो सकता है।

* * * * *

आक्षेप—

Rig Veda 6.44.11

"Give us not, O showerer of benefits, to the wicked. Relying upon your friendship, O Lord of riches, may we remain unharmed. Many are the boons you distribute amongst men; may you demolish those who make no libation, and root out those who present no offerings."

—Tr. SatyaPrakash Saraswati

यहाँ भी आपने सज्जनों को धन देने तथा नास्तिक दुष्टों को नष्ट करने का आरोप लगाया है।

उत्तर— यहाँ भी अनुवाद के पूर्ववत् स्वाभाविक दोष हैं। कौन दुष्ट है और कौन सज्जन, इसके विषय में हम पूर्व में ही लिख चुके हैं। वैसी स्थिति में बार-बार एक जैसे ही आक्षेप प्रस्तुत करने को मात्र मूर्खता वा सत्य के प्रति द्वेष ही कहा जा सकता है।

अब हम यहाँ मन्त्र और उसका ऋषि दयानन्द का भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

मा जस्वने वृषभ नो ररीथा मा ते रेवतः सख्ये रिषाम।
पूर्वीष्ट इन्द्र निःषिधो जनेषु जह्यसुष्वीन्प्र वृहापृणतः॥

[ऋग्वेद 6.44.11]

पदार्थः —(मा) निषेधे (जस्वने) अन्यायेन परस्वप्रापकाय दुष्टाय राज्ञे। जसतीति गतिकर्मा। (निघं.2.14) (वृषभ) बलिष्ठ (नः) अस्मान् (ररीथाः) दद्याः (मा) (ते) तव (रेवतः) बहुधनस्य (सख्ये) मित्रत्वाय (रिषाम) रुष्टा भवेम (पूर्वीः) प्राचीनाः (ते) तव (इन्द्र) दुःखविदारक राजन् (निःषिधः) निःश्रेयसकर्यः क्रियाः (जनेषु) (जहि) (असुष्वीन्) अभिषवस्याकर्तॄन् (प्र) (वृह) पृथक्कुरु (अपृणतः) दुःखदातुर्दुर्जनात्।

भावार्थः — हे राजन्! येऽस्मान् पीडयेयुस्तदधीनान्मा कुर्य्याः श्रेयसि क्रियाः प्रापयेस्तथा वयमप्येतत्सर्वं त्वदर्थमनुतिष्ठेम, एवं सखायो भूत्वाऽभीष्टान्कामान्त्सर्वे वयं प्राप्नुयाम।

पदार्थ— हे (वृषभ) बलयुक्त (इन्द्र) दुःखों के नाश करने वाले राजन्! आप (जस्वने) अन्याय से दूसरे के धन को अन्यत्र प्राप्त कराने वाले दुष्ट राजा के लिये (नः) हम लोगों को (मा) मत (ररीथाः) दीजिये और हम लोग (ते) आप (रेवतः) बहुत धन वाले के (सख्ये) मित्रपने के लिये (मा) नहीं (रिषाम) क्रुद्ध होवें और जो (ते) आपके (जनेषु) मनुष्यों में (पूर्वीः) प्राचीन (निःषिधः) सुखकारक क्रियाएँ हैं उनको दीजिये (असुष्वीन्) उत्पत्ति के नहीं करने वालों का (जहि) त्याग करिये और (अपृणतः) दुःख के देने वाले दुर्जन से हम लोगों को (प्र, वृह) पृथक् करिये।

भावार्थ— हे राजन्! जो हम लोगों को पीड़ा देवें, उनके अधीन मत करिये और कल्याण में क्रियाओं को प्राप्त कराइये, वैसे हम लोग भी इस सब को आपके लिये करें। इस प्रकार मित्र होकर अभीष्ट मनोरथों को हम सब लोग प्राप्त होवें।

यहाँ किसी राष्ट्र की प्रजा द्वारा राजा से यह प्रार्थना की गई है कि

वह अपनी प्रजा को किसी ऐसे राजा की दासी न बना दे, जो अन्याय से दूसरों की धन-सम्पत्ति का हरण करता हो, भले ही वह राजा उस अपने राजा का उत्तराधिकारी पुत्र ही क्यों न होवे। किसी भी राजा को योग्य है कि वह अपना उत्तराधिकारी ऐसे व्यक्ति को बनाये, जो सम्पूर्ण प्रजा का हितसाधक बन सके और उसका व्यक्तिगत जीवन भी सत्य, न्याय, ईमानदारी, जितेन्द्रियता आदि सद्‌गुणों से परिपूर्ण होवे।

यहाँ 'जस्वने' पद गत्यर्थक 'जस' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि राजा सदैव गतिशील होना चाहिए। यहाँ गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति तीनों अर्थ ही ग्राह्य हैं। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी राष्ट्र का राजा पूर्ण विद्वान् होना चाहिए, जिससे उसे कोई देशी अथवा विदेशी चापलूस व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह मूर्ख न बना सकें। इसके अतिरिक्त राजा सदैव पुरुषार्थी और कर्त्तव्यपरायण होना चाहिए। इसके लिए वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक रूप से पूर्ण स्वस्थ और बलवान् होना चाहिए। इसके बिना कोई राजा किसी राष्ट्र का उचित संचालन नहीं कर सकता।

राजा का अन्य गुण यह है कि वह राजा अपने न्याय के प्रकाश से सम्पूर्ण राष्ट्र को प्राप्त होने वाला होवे अर्थात् प्रत्येक नागरिक को न्याय देने वाला होवे। वह राजा किसी भी नागरिक के लिए मिलने हेतु सहज-सुलभ होना चाहिए। यहाँ राजा को वृषभ भी कहा गया है, जिसका अर्थ ऋषि दयानन्द ने बलिष्ठ किया है। इसके अतिरिक्त प्रजा के लिए सुखवर्षक को भी वृषभ कहते हैं। यहाँ राजा को इन्द्र भी कहा गया है, जो दु:खविनाशक होने के अतिरिक्त दुष्टों को दण्ड देने वाला भी होता है। ऐसा राजा न तो किसी दुष्ट व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी बना सकता है और न विदेशी शक्तियों के द्वारा अपने राष्ट्र को गुलाम होने दे

सकता है।

यहाँ प्रजा के लिए भी कर्त्तव्य बताये गये हैं। प्रजा भी राजा के प्रति आदर और विनम्रता का व्यवहार करने वाली होवे, न कि उसके साथ मैत्री करने हेतु अर्थात् उससे अपनी माँगें मनवाने हेतु आक्रोश, हिंसा, आगजनी, हड़ताल अथवा राजा की मिथ्या प्रशंसा अर्थात् चापलूसी आदि का आश्रय लेने वाली होवे। राष्ट्र के हित के लिए राजा और प्रजा दोनों के ही अपने-2 उत्तरदायित्व हैं। राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा के लिए प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराओं, क्रियाओं और संस्कारों का संचार करने वाली शिक्षा व्यवस्था प्रदान करे। जो राजा अपनी प्राचीन सर्वकल्याणकारिणी सांस्कृतिक व आध्यात्मिक धरोहर को भूल जाता वा नष्ट कर देता है, उसका राज्य भी नष्ट हो जाता है।

यहाँ 'असुष्वी' पद का अर्थ है कि जो लोग अन्न-धन आदि उत्पन्न करने वाले नहीं होते अर्थात् अकर्मण्य, प्रमादी एवं संसाधनों का अपव्यय करने वाले हों, ऐसे लोगों को यहाँ दण्डित करने का आदेश है, क्योंकि ऐसे लोग किसी भी राष्ट्र के लिए भाररूप होते हैं। अन्त में राजा के लिए कहा कि राजा निर्दोष वा निर्बलों को दुःख देने वाले दुष्ट जनों को पृथक् कर दे अर्थात् उन्हें देश निकाला दे दे।

अब कोई वेदविरोधी बताये कि इस अर्थ पर कोई भी सभ्य और प्रबुद्ध मानव क्या आपत्ति कर सकता है?

* * * * *

आक्षेप—

Atharva Veda 20.93.2

“Crush with thy foot the niggard churls who bring no gifts. Might art thou: There is not one to equal thee. ”

This verse refers to the Panis tribe, according to some scholars the Panis tribe were also part of the Vedic society but were plundered and killed because they made no offerings to Ishwar, this is why they are considered Niggards. But Yaska gives a different meaning, Yaska writes that Panis tribe were Demons. One is not to be deluded by the usage of the word Demon here as Demons and Barbarians are those who does not follow the Veda or who lives beyond the boundaries of Aryavarta. The Vedic followers are commanded here to crush the Panis tribe only because they make no offerings to Vedic Gods. There are more evidences to show that tribes were plundered and killed just because they made no offerings to Vedic gods.

यहाँ ये महाशय इस वेद मन्त्र को उद्धृत करके यह आक्षेप कर रहे हैं कि इस मन्त्र के आधार पर वैदिक समाज में जनजाति, जिसे वर्तमान में षड्यन्त्रपूर्वक आदिवासी कहा जाता है, को दास बनाकर उन्हें कभी

भी लूट लिया जाता था और मार दिया जाता था, क्योंकि वे ईश्वर को प्रसाद नहीं चढ़ाते थे। उन्हें कंजूस और लोभी कहा जाता था। यह व्यक्ति महर्षि यास्क पर आरोप लगाते हुए कहता है कि यास्क ने इनको दैत्य कहा है। आर्यावर्त्त से बाहर रहने वाले एवं वेदों को न मानने वाले लोगों को राक्षस कहा है और उन्हें तथा जनजातीय लोगों को कुचल डालने की बात कही गई है।

उत्तर— यह आक्षेपकर्त्ता इतना चालाक और धोखेबाज है कि इसने यहाँ भी अनुवादक का नाम नहीं दिया और न निरुक्त का पता ही दिया। यहाँ जनजातीय समाज की मन्त्र में कोई चर्चा नहीं है और उन्हें हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काने के लिए इस प्रकार के निराधार आरोप लगाए गए हैं। इस व्यक्ति को पहले अपनी कुरान को पढ़ना चाहिए।

अब हम इस मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं—

पदा पणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि।
नहि त्वा कश्चन प्रति॥ [अथर्व.20.93.2]

आध्यात्मिक भाष्य—

हे परमेश्वर! (अराधसः) [अराधसम् = अनाराधयन्तम् (निरु.5.14)] जो ईश्वर की आराधना नहीं करते हैं अर्थात् जो ईश्वर की सत्ता को नकार करके इस जगत् में स्वेच्छाचारी, पापी होकर और अहंकार में मदमस्त होकर दूसरों को सताते हैं, उनके (पणीन्) इन दुष्ट व्यवहारों को और इन कुविचारों को (पदा) अपनी सर्वत्र व्याप्ति के द्वारा (निबाधस्व) दूर कर दीजिये। (महान्, असि) हे परमेश्वर! आप सबसे महान् हैं। (कश्चन) ब्रह्माण्ड की कोई भी शक्ति (त्वा, प्रति, नहि) आपका प्रतिरोध नहीं कर सकती अर्थात् आपके विरुद्ध कोई भी शक्ति विद्यमान

नहीं है।

भावार्थ— यहाँ परमेश्वर का उपासक प्रार्थना कर रहा है कि उसके मन में जब कभी नास्तिकता का भाव आने लगे, वह स्वच्छन्द विषयी होने की इच्छा करने लगे, वह सब प्राणियों में ईश्वर का वास न मानकर उन्हें दुःख देने लगे, उन्हें अपना भोज्य समझकर मारकर खाने लगे, तब वह उस परमेश्वर को सर्वव्यापक मानकर उसे अपने अन्दर अनुभव करके ऐसी भावनाओं को दूर करने में समर्थ होवे।

वैदिक उपासना प्रसाद चढ़ाने, घण्टे बजाने और पुष्प आदि भेंट करने का नाम नहीं है, बल्कि इस ब्रह्माण्ड पर चिन्तन करते हुए ईश्वर की सत्ता को कण-2 में अनुभव करते हुए और अपने पापों पर भी चिन्तन करते हुए, उन्हें उस परमेश्वर से दूर करने की प्रार्थना तथा सभी सद्गुणों और सद्बुद्धि की कामना करना ही वैदिक प्रार्थना कहलाती है। ध्यानावस्थित होकर उस ईश्वर को अपने आत्मा में अनुभव करना ही उपासना कहलाती है। जो परम चेतना इस समूची सृष्टि की रचना करती है, उसका संचालन और प्रलय करती है, निश्चित ही उससे बड़ी अथवा उसके बराबर अन्य कोई भी शक्ति कहीं भी विद्यमान नहीं हो सकती।

अब इस मन्त्र पर आरोप लगाने वाले बोलें कि अब क्या कहना चाहोगे? यहाँ अपनी दुर्भावना को दूर करने की बात है, न कि किसी मनुष्य को सताने की। मनुष्य को सताने के जीन्स तो वेदविरोधी मतों में ही भरे हुए हैं और उनके मजहब संसार भर में खून बहाकर ही फैले हैं, लेकिन हम वैदिक लोगों ने कभी किसी देश वा व्यक्ति को लूटने की बात मन में भी नहीं सोची।

* * * * *

आक्षेप—

Rig Veda 4.25.7

"(Indra), the drinker of the effused Soma, contracts no friendship with the wealthy trader who offers not any libation; he takes away his wealth; destroys him when destitute; but he is a special (friend) to him who presents the libation and oblation."

न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलोभूत्॥

लोभी बनियों के साथ मैत्री संस्थापित नहीं करते हैं। वे उनके निरर्थक धन को उद्धरित करते हैं और नष्ट करते हैं। वे सोमाभिषव-कारी तथा हव्यपाककारी यजमान के असाधारण बन्धु होते हैं।

यहाँ अंग्रेजी अनुवादक इन्द्र को सोमरम पीने वाला बता रहा है। उन धनी व्यापारियों, जो इन्द्र देवता के लिए सोमरस आदि पदार्थ प्रसाद में नहीं चढ़ाते, के धन को नष्ट करने की बात की गई है और जो ऐसा करते हैं, उन्हें इन्द्र का मित्र बताया है। हिन्दी अनुवाद में भी यही है। यहाँ भी आक्षेपकर्त्ता ने किसी अनुवादक का नाम नहीं दिया है।

उत्तर— अब हम इस मन्त्र का हम ऋषि दयानन्द का भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलोभूत्॥

[ऋग्वेद 4.25.7]

पदार्थः — (न) (रेवता) प्रशस्तधनवता (पणिना) व्यवहर्त्रा वणिग्ज-नादिना (सख्यम्) मित्रभावम् (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यवान् राजा (असुन्वता) अपुरुषार्थिना (सुतपाः) सुष्ठु धर्म्मात्मा रागद्वेषरहितः (सम्) (गृणीते) उपदिशति (आ) (अस्य) राज्ञः (वेदः) द्रव्यम् (खिदति) दैन्यं प्राप्नोति (हन्ति) (नग्नम्) निर्लज्जम् (वि) (सुष्वये) सुष्ठु निष्पादकाय (पक्तये) पाककर्त्रे (केवलः) असहायः (भूत्) भवति।

भावार्थः — यो राजा धनादिलोभेन धनिनामुपरि प्रीतो दरिद्रान् प्रत्यप्रसन्नो न भवति यो दुष्टान्त्सम्यग्दण्डयित्वा श्रेष्ठान् सततं रक्षति नैवाऽस्य राष्ट्रं कदाचित् खेदं प्राप्नोति।

पदार्थ— जो (सुतपाः) उत्तम प्रकार धर्म्मात्मा और राग अर्थात् विषयों में प्रीति और प्राणियों में द्वेष से रहित (इन्द्रः) अत्यन्त ऐश्वर्य्य वाला राजा (रेवता) श्रेष्ठ धन वाले (पणिना) व्यवहारी वैश्य जन आदि और (असुन्वता) नहीं पुरुषार्थ करने वाले जन के साथ (सख्यम्) मित्रपने को (न) नहीं करता और सब को सत्य न्याय का (सम्, गृणीते) अच्छे प्रकार उपदेश देता है और जो (केवलः) सहायरहित हुआ (सुष्वये) उत्तम प्रकार उत्पन्न करने वाले (पक्तये) पाककर्त्ता के लिये (भूत्) होता है और जो (नग्नम्) निर्लज्ज का (वि, हन्ति) उत्तम प्रकार नाश करता है (अस्य) इस राजा का (वेदः) द्रव्य कभी नहीं (आ, खिदति) दीनता अर्थात् नाश को प्राप्त होता है।

भावार्थ— जो राजा धन आदि के लोभ से धनियों के ऊपर प्रसन्न और

दरिद्रों के प्रति अप्रसन्न नहीं होता है और जो दुष्टों को उत्तम प्रकार दण्ड देकर श्रेष्ठों की निरन्तर रक्षा करता है, नहीं इसका राज्य कभी खेद को प्राप्त होता है।

यहाँ हिन्दी अनुवाद में कुछ त्रुटियाँ हैं। संस्कृत भाष्य ही ऋषि दयानन्द का है। संस्कृत भाष्य में उन वैश्यों को अच्छा नहीं माना है, जो पुरुषार्थ नहीं करते और वाद-बखेड़ा खड़ा करते रहते हैं। 'व्यवहर्त्रा' पद वि+अव उपसर्गपूर्वक हृञ् हरणे धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने संस्कृत धातुकोश में उद्योग करना एवं धन्धा करना के अतिरिक्त वाद-बखेड़ा आदि करना भी लिखा है। उद्योग-धन्धा करना और पुरुषार्थ करना दोनों समानार्थक हैं, क्योंकि बिना पुरुषार्थ के उद्योग-धन्धा हो ही नहीं सकता। यहाँ 'पणिना' का विशेषण 'असुन्वता' दिया गया है और 'असुन्वता' का अर्थ 'अपुरुषार्थिना' किया गया है। इस कारण व्यवहर्त्रा का अर्थ उद्योग करने वाला नहीं हो सकता, बल्कि लड़ाई-झगड़ा आदि करने रूप व्यवहार ही होगा।

अब इस पर विचार करें कि अगर वैश्य पुरुषार्थी नहीं है और धनवान् है, तब निश्चित ही उसने कपट और चोरी आदि से धन कमाया होगा, तब यही उचित है कि उसके धन को छीन लेना चाहिए। वेद धनी होने का विरोध नहीं करता, बल्कि वह कहता है—

'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'

अर्थात् हम धन-ऐश्वर्यों के स्वामी होवें। वेद बाइबिल नहीं है, जिसमें कहा है—

"धनी का स्वर्ग में प्रवेश करना उतना ही कठिन है, जितना कि सुई के छेद में से ऊँट का निकलना।"

ऋषि दयानन्द के भाष्य का हिन्दी अनुवाद करने वाले पण्डितों ने यह गलती कर दी कि उन्होंने 'पणिना' और 'असुन्वता' पदों के बीच 'और' शब्द अपनी कल्पना से डाल दिया, जबकि मन्त्र में कहीं भी 'च' अव्यय नहीं है। ऋषि दयानन्द के अन्वय में 'पणिना' और 'असुन्वता' दोनों को जोड़कर लिखा है। इस कारण इन दोनों को पृथक् करना इस मन्त्र की मूल भावना के ही विरुद्ध है और तर्क के भी विरुद्ध है।

यहाँ राजा को 'सुतपा' कहा है अर्थात् राजा तपस्वी होना चाहिए और राग-द्वेष से रहित होना चाहिए, तभी वह सबके साथ सत्य न्याय कर सकता है। राजा विलासी और आडम्बरी नहीं होना चाहिए, बल्कि त्यागी होना चाहिए। राजा अकेला ही सभी प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने वाले उद्योगपतियों एवं नाना प्रकार के अन्न-फल आदि पकाने वाले किसानों के लिए सदैव सहायक होता है और निर्लज्ज दुराचारी लोगों को नष्ट करता है। ऐसे राजा का राजकोष कभी नष्ट नहीं होता।

कहिए, रजवी महाशय! बताइए क्या ऐसा राजा आपको अच्छा नहीं लगता? मूर्ख अनुवादकों के सहारे वेद पर आक्रमण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, बल्कि आपको और विश्व के सभी राजनेताओं को इससे शिक्षा लेनी चाहिए।

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

आक्षेप—

Rig Veda 5.34.8

"When Indra, the possessor of opulence, discriminates between two men, both wealthy, and exerting themselves (against each other) for the sake of valuable cattle, he takes one of them [The one who performs Yajna] as his associate, causing (his adversaries) to tremble, and the agitator (of the clouds), together with the Maruts, bestows upon him herds of cattle."

सं यज्ञनौ सुधनौ विश्वशर्धसाववेदिन्द्रो मघवा गोषु शुभ्रिषु।
युजं ह्य१न्यमकृत प्रवेपन्युदीं गव्यं सृजते सत्त्वभिर्धुनिः॥

उत्तम धन वाले, अत्यन्त बलशाली दो मनुष्य जब शुभ्र गौओं के लिए परस्पर संघर्ष करते हैं, तो ऐश्वर्यशाली इन्द्रदेव उनमें से याज्ञिक की ही सहायता करते हैं। अपने बलों से शत्रुओं को कँपाने वाले इन्द्रदेव इस याज्ञिक को गौओं का समूह दान करते हैं॥

Other verses shows that Ishwar provides pro–tection to those who make offerings to him, but Ishwar slays the person who doesn't worship or make offerings. Why is Ishwar behaving like a thug? Shouldn't Ishwar be equal and friendly to everyone irresp–ective of their offerings?

All the verses I quoted above orders to kill those who make no offerings, there are several instances in Vedas wherein tribesmen were killed just because they made no offering to Ishwar,

इन दोनों ही मन्त्रों के अनुवाद के आधार पर आक्षेप किया है कि वेद में याज्ञिकों को ईश्वर द्वारा दान एवं अयाज्ञिकों को दण्ड का विधान किया गया है।

उत्तर— यहाँ भी आक्षेपकर्त्ता अपने स्वभाव से बाज नहीं आया, जो बिना अनुवादकों का नाम दिये हिन्दी और अंग्रेजी दोनों अनुवादों को उद्धृत कर दिया। सर्वप्रथम तो ये दोनों अनुवादक भी नितान्त नादान निकले, जिन्होंने जो मन में आया, सो अनुवाद कर दिया। दूसरे आक्षेपकर्त्ता महोदय उनसे भी अधिक अनपढ़ निकले, जिन्हें इन सामान्य अनुवादों का भी आशय समझ में नहीं आया और भ्रान्ति फैलाने और लोगों को भड़काने के लिए उद्यत हो गये।

मैं आक्षेपकर्त्ता से जानना चाहूँगा कि अब तक भी आपको 'यज्ञ' और 'याज्ञिक' जैसे पदों का अर्थ समझ में आया वा नहीं? यदि नहीं, तब आपकी बुद्धि को क्या कहें? चलिए, फिर समझा देते हैं—

परोपकार करना, सभी सज्जन लोगों को संगठित करना और सृष्टि के विभिन्न पदार्थों का सर्वहित में उपयोग करने के साथ-2 माता-पिता, सभी परिवारी वयोवृद्ध जन, गुरु, विद्वान् और अन्य पालक व रक्षक मनुष्यों का सम्मान करना यज्ञ कहलाता है। इस प्रकार जो व्यक्ति ऐसे काम करता है, उसे याज्ञिक कहते हैं। इसके विपरीत स्वार्थी, लोभी,

किसी बड़े का सम्मान नहीं करने वाला अथवा उन्हें सताने वाला, सृष्टि के साधनों का दुरुपयोग वा नाश करने वाला, परिवार, समाज वा राष्ट्र में विघटन पैदा करने वाला अयाज्ञिक कहलाता है। जब दुष्ट जनों के मध्य कोई विवाद हो, तब न्यायकारी व्यक्ति के लिए क्या उचित है ? वह दोनों को एक तराजू पर तोले अथवा सज्जन की सहायता करके दुष्ट को दण्ड देवे ? इसका उत्तर अल्प बुद्धि वाला भी जान सकता है। इसका निर्णय आपको करना है कि आपका बौद्धिक स्तर कैसा है ?

अब हम यहाँ ऋषि दयानन्द का भाष्य भी उद्धृत करते हैं—

सं यज्जनौ सुधनौ विश्वशर्धसाववेदिन्द्रो मघवा गोषु शुभ्रिषु।
युजं ह्य१न्यमकृत प्रवेपन्युदीं गव्यं सृजते सत्त्वभिर्धुनिः॥

[ऋग्वेद 5.34.8]

पदार्थः — (सम्) (यत्) यौ (जनौ) (सुधनौ) धर्मेण जातश्रेष्ठधनौ (विश्वशर्धसौ) समग्रबलयुक्तौ (अवेत्) प्राप्नुयात् (इन्द्रः) राजा (मघवा) परमपूजितबहुधनः (गोषु) धेनुपृथिव्यादिषु (शुभ्रिषु) शुभगुणेषु (युजम्) युक्तम् (हि) यतः (अन्यम्) (अकृत) करोति (प्रवेपनी) गच्छन्ती (उत्) (ईम्) उदकम् (गव्यम्) गोभ्यो हितम् (सृजते) (सत्त्वभिः) पदार्थैः (धुनिः) कम्पकः।

भावार्थः — राज्ञा स्वराज्य उत्तमान्धनिनो विदुषोऽध्यापकोपदेशकाँश्च संरक्ष्यैतैर्व्यवहारधनविद्योन्नतिः कार्य्या।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो (धुनिः) कम्पने वाला (मघवा) अत्यन्त श्रेष्ठ बहुत धन से युक्त (इन्द्रः) राजा और (यत्) जो (सुधनौ) धर्म्म से उत्पन्न हुए श्रेष्ठ धन से तथा (विश्वशर्धसौ) सम्पूर्ण बल से युक्त (जनौ) दो जनों को (सम्, अवेत्) अच्छे प्रकार प्राप्त होवे और (शुभ्रिषु) उत्तम

गुण वाले (गोषु) धेनु और पृथिवी आदिकों में (हि) जिससे (युजम्) युक्त (अन्यम्) अन्य को (अकृत) करता है और (प्रवेपनी) चलती हुई (गव्यम्) गौओं के लिए हितकारक (ईम्) जल को (सत्त्वभिः) पदार्थों से (उत्, सृजते) उत्पन्न करता है, वह सुख करने वाला होता है।

भावार्थ— राजा को चाहिए कि अपने राज्य में उत्तम धनी, विद्वान् तथा अध्यापक और उपदेशकों की उत्तम प्रकार रक्षा करके उनसे व्यवहार, धन और विद्या की उन्नति करे।

यहाँ ऋषि दयानन्द ने राजा के कुछ गुणों का वर्णन किया है, जो इस प्रकार हैं—

1. राजा दुष्ट अपराधियों को दण्ड के द्वारा कँपाने वाला होना चाहिए।
2. राजा का राष्ट्रीय कोष धर्म अर्थात् नैतिकता से अर्जित प्रचुर धन से समृद्ध होना चाहिए।
3. राजा इन्द्ररूप होना चाहिए अर्थात् उसका ऐश्वर्य विश्व भर में प्रसिद्ध होना चाहिए।
4. राजा धर्म से अर्जित धन से सम्पन्न धनवानों और बल आदि से सम्पन्न बलवानों के सहयोग हेतु सदैव तत्पर रहना चाहिए।
5. इनके अतिरिक्त जो निर्बल और निर्धन नागरिक होवें, उन्हें भी शुभ गुणयुक्त गौ आदि पशुओं और उर्वरा भूमि आदि धनों से प्रतिष्ठित करने वाला होना चाहिए।

इसका अर्थ यह है कि राजा निर्धनों को धनवान् और निर्बलों को बलवान् बनाने की परिस्थिति पैदा करने वाला होना चाहिए और जो ऐसे हो चुके हैं, उन्हें भी निरन्तर प्रोत्साहित करने वाला होना चाहिए।

6. चरागाह में विचरते हुए गौ आदि पशुओं के लिए उत्तम पौष्टिक घास आदि और शुद्ध जल की व्यवस्था करने वाला होना चाहिए।

अब वेदविरोधी बन्धु सोचें कि क्या आपको ऐसा राजा नहीं चाहिए? वस्तुतः आपको तो वे राजा आदर्श दिखाई देते हैं, जो धर्मान्ध होकर क्रूरतापूर्वक अन्य मतावलम्बियों का व्यापक संहार करके दूसरे देशों को अपना दास बनाते हों तथा नागरिकों को बलपूर्वक अपने मजहब में सम्मिलित करते हों।

* * * * *

आक्षेप—

Rig Veda 3.53.14

"O bounteous Lord, of what avail are the cattle of infidels to you. Neither they yield milk nor do these faithless persons kindle sacred fire. May you bring wealth of these unbelievers to us and give us possession of people of low mortality and crush them."

—Tr. SatyaPrakash Saraswati

This verse is referring to the Kikata tribe who were plundered by Vedic heroes and killed. Maharishi Yaska explains this as,

Nirukta 6.32 What are the cows doing in Kikata? Kikata is the name of a country where the non–Aryans dwell. Non–Aryan tribes are (so called because it is said), What have they done? Or their assumption is that religious rites are useless. They neither get the milk to mix with the soma, nor kindle fire.

Here the Vedic god is invoked to plunder the cows of of Kikata people and to plunder the wealth of the king of Kikata tribe. As I said earlier, many tribes were plundered and looted by Vedic gods just

because they made no offering to Ishwar, Kikata and Panis tribes are few examples. Here is another translation by Arya Samaj,

Rig Veda 3.53.14

"O learned king! you possess admirable wealth, what do the cattle do among the atheists because they have no faith in the Vedic teachings and rites or in place inhabited by them. They yield no milk to mix with theSoma, and do not perform the Yajna with the ghee of the cows. Therefore, bring them to us, so that we may use them for hospitality (giving the milk mixed with Soma) to teachers and prea–chers. Give us wealth taken away from the wicked persons for the use of those who hailing from a good family come to us. Remove far away from us a man who uses his power for doing mean or inglorious acts or keep him under us."

—Tr. Acharya Dharma Deva Vidya Martanda

Swami Dayanand Saraswati wrote on this verse, "As the cows do not grow among the wicked atheists, in the same manner, Dharma and other virtues do not grow among the persons lacking faith. Among the enlightened persons atheists can never have the upper hand. Therefore, good scholars should blot out atheism."

—Tr. Acharya Dharma Deva Vidya Martanda

उत्तर— यहाँ सुलेमान रजवी ने वेद और आर्यसमाज को बदनाम करने

में पूरी शक्ति लगा दी है। ऋग्वेद 3.53.14 मन्त्र के विभिन्न भाष्यों के अंग्रेजी अनुवाद को प्रस्तुत करके आक्षेपकर्त्ता यह कहना चाहता है कि जनजाति लोगों को गौ आदि पशु रखने का अधिकार नहीं है। यहाँ महर्षि यास्क को भी उद्धृत किया है और उनके भाष्य पर भी यही आक्षेप है।

यहाँ हम सर्वप्रथम तो यह कहना चाहेंगे कि वेदमन्त्रों का सर्वप्रथम भाष्य आधिदैविक ही होता है, क्योंकि वेदमन्त्रों से ही सृष्टि की रचना हुई है। आधिदैविक भाष्य ही स्वाभाविक भाष्य होते हैं और ये भी कई प्रकार के हो सकते हैं, परन्तु जो भाष्य किसी भी वेदमन्त्र के सृष्टि पर पड़ने वाले प्रभाव को संजोए हुए होता है, वही भाष्य वास्तव में स्वाभाविक होता है। अन्य प्रकार के आधिदैविक भाष्य भाष्यकार की ऊहा, प्रतिभा व रुचि के अनुकूल हो सकते हैं। कोई भी लेखक देश-काल-परिस्थिति के अनुसार आधिभौतिक भाष्य भिन्न-2 कर सकता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक भाष्य के विषय में भी समझें।

हमने अपने निरुक्त-भाष्य 'वेदार्थ-विज्ञानम्' में इसका आधिदैविक भाष्य किया है, जिसमें गम्भीर सूर्य विज्ञान का वर्णन है, परन्तु उसे हम यहाँ उद्धृत नहीं कर रहे, इसे पाठक ग्रन्थ में यथास्थान पढ़ सकते हैं। वैसे भी ऐसे आक्षेपकर्त्ताओं की बुद्धि हमारे आधिदैविक भाष्यों को समझने में समर्थ भी नहीं है। हम यहाँ ऋषि दयानन्द का भाष्य उद्धृत करते हैं, जिसका आक्षेप-कर्त्ता ने आर्य विद्वानों द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद उद्धृत किया है।

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥

[ऋग्वेद 3.53.14]

पदार्थः — (किम्) (ते) तव (कृण्वन्ति) (कीकटेषु) अनार्य्यदेश-निवासिषु म्लेच्छेषु (गावः) धेनूः (न) (आशिरम्) यदस्य ते तत् क्षीरादिकम् (दुह्रे) दुहन्ति (न) (तपन्ति) (घर्मम्) दिनम्। घर्म इत्यहर्ना. (निघं.1.9) (आ) समन्तात् (नः) अस्मभ्यम् (भर) धर (प्रमगन्दस्य) यः कुलीनो मां गच्छति स तस्य (वेदः) धनम् (नैचाशाखम्) नीचा शाखा शक्तिर्यस्मिँस्तम् (मघवन्) पूजितधनयुक्त (रन्धय) निवारय (नः) अस्माकम्।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। यथा म्लेच्छेषु गावो न वर्द्धन्ते नास्तिकेषु धर्मादयो गुणाश्च, तथैव विद्वत्स्वनीश्वरवादिनः प्रबला न जायन्ते तस्माद्विद्वद्भिर्मनुष्येषु नास्तिकत्वं सर्वथा निवारणीयम्।

पदार्थ— हे विद्वान्! (ते) आप के (कीकटेषु) अनार्य देशों में वसने वालों में (गावः) गावों से (न) नहीं (आशिरम्) दुग्ध आदि को (दुह्रे) दुहते हैं (घर्मम्) दिन को (न) नहीं (तपन्ति) तपाते हैं वे (किम्) क्या (कृण्वन्ति) करते वा करेंगे और आप (नः) हम लोगों के लिये (प्रमगन्दस्य) जो कुलीन मुझ को प्राप्त होता है, उस के (वेदः) धन को (आ) सब प्रकार से (भर) धारण करिये और हे (मघवन्) श्रेष्ठ धन से युक्त! आप (नः) हम लोगों के (नैचाशाखम्) नीची शक्ति जिस में उस की (रन्धय) निवृत्ति करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे म्लेच्छ जनों में गौओं की, नास्तिक पुरुषों में धर्म आदि गुणों की वृद्धि नहीं होती और वैसे ही विद्वानों में ईश्वर को नहीं मानने वाले प्रबल न होवें, इससे चाहिये कि मनुष्यों में नास्तिकत्व को सर्वथा वारण करे।

यहाँ स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती की अपेक्षा आचार्य धर्मदेव

विद्यामार्तण्ड का अनुवाद अधिक उपयुक्त है। नास्तिक और आस्तिक की यथार्थ परिभाषा हम पहले ही बतला चुके हैं। जो लोग गाय के घृत से पर्यावरण-शोधक यज्ञ नहीं करते, गोदुग्ध आदि पीना भी जिन्हें अच्छा नहीं लगता और जो मांसाहारी उन गौओं को मांस एवं चर्बी आदि के लिए पालते हैं, ऐसे लोग ही अनार्य कहलाते हैं। गाय संसार का सर्वाधिक उपकारी पशु है, उसको मारकर खाना, मानो मनुष्य को मारकर खाने के बराबर है, वह भी तब, जब वह मनुष्य भी उपकारी हो और जब मनुष्य पापी, चोर, डाकू और मांसाहारी होवे, तब गोहत्या उसकी हत्या से कई गुणा बड़ा अपराध है, बल्कि पापी मनुष्य को मारना तो पुण्य का कार्य है, क्योंकि उसके मरने से अनेक मनुष्यों और पशु-पक्षियों को लाभ होता है। ऐसे अनार्य अर्थात् दुष्ट लोगों के पास गौएँ वृद्धि को प्राप्त नहीं होतीं, क्योंकि वे उन्हें मारकर खाते रहते हैं।

यहाँ मन्त्र में यह बताया गया है कि पापी लोगों के देश में जिस प्रकार गौएँ वृद्धि को प्राप्त नहीं होतीं, उसी प्रकार नास्तिक लोगों में धर्म आदि सद्गुणों की वृद्धि नहीं होती। इस कारण से यहाँ कामना की गई है कि नास्तिक लोग कभी भी बलवान् नहीं होने पावें, अन्यथा वे मनुष्य और पशु-पक्षियों को पीड़ा देते ही रहेंगे। ध्यान रहे नास्तिक की परिभाषा वही माननी चाहिए, जो हम पूर्व में लिख चुके हैं।

आज संसार में नास्तिक व पापी लोगों के पास ही संसार के अधिकतम संसाधन हैं। इसलिए सारे संसार में भय, आतंक, दुःख, क्लेश, हिंसा, वैमनस्यता, ईर्ष्या आदि की भरमार है और संसार में कहीं भी शान्ति नहीं है और ऐसा लगता है कि वेदविरोधियों को अशान्ति और हिंसा ही प्रिय है। जिन्होंने संसार में धर्म के नाम पर निर्दोष मनुष्यों और निरीह पशु-पक्षियों के रक्त से स्नान करना अपना अधिकार समझ रखा

है, वे वेद पर आक्षेप करने चले हैं। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा?

अब तक हमने 15 आक्षेपों के उत्तर दिये हैं, जो प्राय: वेदों में हिंसा के आरोप हैं। इन 15 आक्षेपों के उत्तर ध्यान से निष्पक्षतापूर्वक पढ़कर संसार का कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति भय पैदा करना, किसी निर्दोष को सताना वा हत्या करना, व्यर्थ किसी से शत्रुता करना जैसे आरोप वेद पर नहीं लगा सकता। जहाँ-2 भी वेद पर जो आक्षेप इस प्रकार के लगाये गये हैं, उन सबका उत्तर इन 15 आक्षेपों के उत्तरों से ही मिल जाता है।

वैदिक धर्म और संस्कृति में यह स्पष्ट है कि चोर, डाकू, दुराचारी, समाज और राष्ट्र के प्रति कुछ भी सद्भावना न रखने वाला, धनवान् होते हुए भी कृपण जैसे दुष्ट जनों को ही शत्रु बनाने का विधान है और ऐसे ही शत्रु को दण्डित करने का विधान किया गया है। संसार के किसी भी सभ्य देश का कानून भी ऐसे दुष्टों को दण्ड की ही आज्ञा देता है, तब वेद पर दोषारोपण करना क्या बुद्धिमानी है? आज भी कुछ अरब देशों में क्या अपराधी को अत्यन्त कठोर दण्ड देने का विधान नहीं है? इतने विस्तृत स्पष्टीकरण के उपरान्त मुझे नहीं लगता कि अब वेद में हिंसा के किसी भी आरोप का उत्तर देने की आवश्यकता है। इसलिए हम इस प्रकरण को यहाँ विराम देते हैं और अन्य आरोपों पर विचार करते हैं।

* * * * *

वेदों पर अश्लीलता का आरोप

'Hinduism Exposed Obscenity in Vedas' नाम से सुलेमान रजवी का एक लेख है। इसमें लेखक ने हिन्दू ग्रन्थों में खुली अश्लीलता व यौनाचार के आरोप लगाए हैं। इसके लिए मुख्य निशाना वेद व इसके व्याख्यान ग्रन्थ '**निरुक्त**' को बनाया गया है। आश्चर्यजनक ढंग से इसने भागवत, ब्रह्मवैवर्त व शिवपुराणादि मध्यकालीन ग्रन्थों की चर्चा तक नहीं की है। हाँ, कामसूत्र का नाम अवश्य लिया है। इसके साथ ही खजुराहो मन्दिर और अजन्ता व एलोरा गुफाओं को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आश्चर्य की बात यह है कि जिनके कुरानादि ग्रन्थों में कहीं भी ब्रह्मचर्य व अहिंसा का नाम तक नहीं है, वे हमें सदाचार, लज्जा व अहिंसा का उपदेश कर रहे हैं। अनेक पत्नियों की छूट देने वाले तथा दूसरों की स्त्रियों को भी लूटने वाले अब वैदिक सनातनी लोगों को वेदों की अश्लीलता बता रहे हैं, चलिए यह दुस्साहस ही सही।

हम रजवी महाशय के आरोपों का उत्तर देने से पूर्व अपने तथाकथित सनातनी विद्वद् महानुभावों से कहना चाहेंगे कि यदि आपने अपने ग्रन्थों को पढ़ा होता, तो आपको स्वयं इन ग्रन्थों के मिथ्या भाष्यों व अनुवादों का बोध हो जाता और सत्य भाष्य करने की इच्छा तो होती तथा मन्दिरों में प्रतिमापूजन व घण्टे शंख बजाने वा अन्य तर्कहीन कर्मकाण्डों व कथा श्रवण-श्रावण से ही स्वयं को कृतकृत्य न मान रहे होते। इसी प्रकार यदि आर्य विद्वानों ने भी वेद पर परिश्रम किया होता तथा मंचशूरता व सम्मेलनों

के नाम पर बाह्याडम्बरों, वेद के नाम पर किस्से-कहानियों का श्रवण-श्रावण, कहीं दर्शनों पर अपनी कल्पना के अनुसार व्याख्यान व प्रचार, कहीं योग के नाम पर कल्पित ध्यान व समाधि वा व्यायाम के प्रदर्शन मात्र तथा वैराग्य के नाम पर परिवार तोड़ने व पलायनवाद के मिथ्या राष्ट्रघाती उपदेशों में न उलझे होते, तो एक सौ पचास वर्ष के लम्बे कार्यकाल में वेद के उज्ज्वल विज्ञान को विश्व में प्रकाशित कर देते।

दुर्भाग्य की बात है कि तथाकथित आर्यों एवं तथाकथित सनातनियों अर्थात् इन दोनों ने मिलकर वेदविरोधी लोगों को अपने विरुद्ध नाना प्रकार के हथियार दे दिये हैं। इन वेदविरोधियों को उनके गिरेबान दिखाने के लिए कुछ आर्यसमाजियों ने तो उनके मिथ्या ग्रन्थ पढ़े भी हैं और उनको शास्त्रार्थ में सदैव धराशायी भी किया है, परन्तु मेरे तथाकथित सनातनी विद्वानों ने वेदविरोधियों के आक्रमणों पर कभी ध्यान नहीं दिया और अपने शास्त्रों व पूर्वजों का अपमान चुपचाप सहन करते रहे हैं और आर्यसमाज की ही निन्दा करने में सनातन धर्म की रक्षा समझते रहे हैं।

मुझे प्रतीत होता है कि लेखक ने इस कारण केवल वेद को निशाना बनाया है और पौराणिक ग्रन्थों को छोड़ दिया है। इसके साथ ही सायण व महीधर का वेदभाष्य भी कहीं उद्धृत नहीं किया है, अधिकांश आर्यसमाजियों का भाष्य वा अनुवाद उद्धृत किया है। दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि संसार भर की सभी आसुरी शक्तियाँ इस धरती से मानवता का सम्पूर्ण विनाश करना चाहती रही हैं एवं आज भी यह हो रहा है। वे दुष्ट शक्तियाँ यह भी जानती हैं कि मानवता का आधारभूत ग्रन्थ केवल वेद ही है तथा वेद का ही विज्ञान वर्तमान विज्ञान, जो बृहदांश में आसुरी विज्ञान है, से बहुत उत्कृष्ट है।

वेद का विज्ञान प्राणिमात्र का हितसम्पादक है, जबकि आसुरी विज्ञान व तकनीक मुट्ठी भर पूँजीपतियों को ही समृद्ध व निरंकुश बनाने का साधन है। इस कारण ये शक्तियाँ वेद को मिटाने के लिए कृतसंकल्प हैं। ये शक्तियाँ यह भी जानती हैं कि वेद का जैसा-तैसा ही सही, लेकिन अर्थ जानने की कुछ परम्परा आर्यसमाज में ही रही है, जबकि कथित सनातनी वास्तव में मुट्ठी भर तो मात्र वेदपाठ तक ही सीमित हैं तथा अधिकांश तो भागवतादि पुराण, रामचरितमानस, हनुमान् चालीसा, गीता व बहुदेववाद में फँसे मूर्तिपूजा आदि में ही अपना धर्म मान बैठे हैं। इस कारण भी वेद व आर्यसमाज को मुख्य निशाना बनाया गया है, गौण रूप में समस्त हिन्दू समाज पर आक्रमण किया गया है।

खजुराहो आदि मन्दिरों में कैसी मूर्तियाँ हैं, इसकी मुझे बिल्कुल भी जानकारी नहीं थी। एक दिन हमारे एक सहयोगी प्रिय राकेश उपाध्याय ने बताया कि उनमें बहुत अश्लील मूर्तियाँ हैं। मैंने किसी से कहकर मोबाइल में देखने का प्रयास किया, परन्तु एक-दो चित्र देखने के पश्चात् मैं नहीं देख सका। वस्तुतः ये मन्दिर सनातन धर्म के नाम पर कलंक हैं, परन्तु कौन लोग हैं, जो आज भी इन मन्दिरों को महिमामण्डित करते हैं? ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू समाज को दिशाहीन बनाने के लिए सनातन धर्म के नाम पर नाना आडम्बरों को ही महत्त्व देने के लिए भी विदेशी शक्तियाँ सदियों से षड्यन्त्र रचती रही हैं और हिन्दू समाज सदा से ही बुद्धिहीनता का शिकार होता रहा है, इसी कारण इसे दासता का दंश भोगना पड़ा है।

कामसूत्र को वात्स्यायन मुनि का माना जाता है, क्या ऐसा आर्य विद्वान् भी मानते हैं? मैंने अपने एक गृहस्थ शिष्य, जो दिल्ली में संस्कृत शिक्षक है, से पूछा— 'क्या तुमने कभी कामसूत्र देखा है?' उसने कहा—

'देखा है', मैंने पूछा— 'क्या उसमें विज्ञान है?' उसने कहा कि उसमें विज्ञान जैसा कुछ प्रतीत नहीं होता, बल्कि साधारण सी बातें हैं, जो अशोभनीय शैली में लिखी हैं। इससे मैं पहचान गया कि कामसूत्र का लेखक कोई मुनि नहीं, बल्कि कोई कामी पुरुष होगा। जिस प्रकार भागवतादि अठारह पुराणों का रचयिता महर्षि वेदव्यास को मिथ्या ही प्रचारित कर दिया है, उसी प्रकार कामसूत्र का रचयिता वात्स्यायन मुनि को मिथ्या ही प्रचारित करके ऋषि-मुनियों को जंगली सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान विद्वानों में सत्यासत्य व आर्ष-अनार्ष की पहचान करने का विवेक ही नहीं रहा।

हमारे विद्वानों को ऋषियों के विचार जानने के लिए सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि ऋषि कहते किसे हैं? इसे जाने बिना कौनसा ग्रन्थ ऋषिकृत है, यह नहीं जाना जा सकता। जो ईश्वर का साक्षात्कार करके वेदमन्त्रों के महान् ज्ञान-विज्ञान को जान लेता है, वह ऋषि कहलाता है। ईश्वर-साक्षात्कार के लिए पूर्ण योगी होना अनिवार्य है और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह नामक पाँच यमों तथा शौच (बाह्य व आन्तरिक पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान, इन पाँच नियमों का पालन अनिवार्य है। यहाँ हम वेदों पर अश्लीलता के आक्षेप के निवारण पर विचार कर रहे हैं, इस कारण यहाँ केवल ब्रह्मचर्य नामक यम ही प्रासंगिक है। ब्रह्मचर्य की मर्यादा भी ऋषियों ने निर्धारित की है, जो इस प्रकार है—

यदि गृहस्थ की कामना होवे, तो भी न्यूनतम पच्चीस वर्ष की आयु तक पूर्ण ब्रह्मचारी रहे अर्थात् स्वेच्छा से वीर्यनाश कभी नहीं करे। विवाहित होने पर भी पूर्ण ऋतुगामी ही होवे तथा सन्तान की कामना से ही पत्नी से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करे, विलास मात्र के लिए नहीं।

कोई वेदविरोधी ऐसी आदर्श स्थिति की कल्पना करने का साहस भी नहीं कर सकता।

अब विचारें कि जो ऋषि वा मुनि होगा, वह ऐसा ही ब्रह्मचर्यव्रती अनिवार्यतः होगा। तब ऐसा ऋषि वा मुनि न तो कामसूत्र जैसा फूहड़ ग्रन्थ लिखेगा और न कोई खजुराहो जैसे पापपंक में डूबे मन्दिरों को बनाने की प्रेरणा ही देगा। न वह भागवत-ब्रह्मवैवर्त पुराणादि में वर्णित अश्लील प्रसंग ही लिखेगा और न वेदादि की अश्लील टीकाएँ ही लिखेगा। ऋषि की जो परिभाषा वैदिक वाङ्मय में है, ईश्वरोपासना की जो प्रणाली वैदिक वाङ्मय में है, वैसी परिभाषा व प्रणाली संसार भर के किसी मत-मजहब में दिखाएँ।

सुलेमान रजवी देखें कि उनके यहाँ सदाचार का कहीं संकेत भी है क्या? जहाँ कहीं दीन वा कर्त्तव्यों का वर्णन है, वहाँ सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह जैसे पावन मानवीय मूल्य हैं क्या? ऐसी स्थिति में भी आप वैदिक वाङ्मय में अश्लीलता ढूँढने चले! आपके भाग्य से पथभ्रष्ट भाष्यकार लेखकों एवं हिन्दुओं के प्रमाद ने आपको ऐसी सामग्री दे दी, पुनरपि आप अपना साहित्य व घर तो देख लेते।

बड़े आश्चर्य की बात है कि संसार में जिन लोगों ने इस धरती को सदैव खून से रंगा है, जो किसी के प्राण लेने में भी मरने वाले को अधिकाधिक पीड़ा हो, ऐसा क्रूर कृत्य करते हैं। जिन्होंने अपने पेट को हर प्रकार के पशु-पक्षियों का कब्रिस्तान बना लिया है, वे हमें अहिंसा, दया व भाईचारे का पाठ पढ़ावें। कोई वैश्या किसी पतिव्रता नारी को पतिव्रत धर्म का उपदेश करे, रात-दिन शराब के नशे में गन्दी नालियों में पड़ा रहने वाला कोई मनुष्य नाली में पड़ा-2 ही नशाबन्दी पर भाषण

करे। वही स्थिति वेद पर लाञ्छन लगाने वालों की है।

अब मैं अपने हिन्दू भाई-बहिनों वा वैदिक सनातन धर्म के ध्वजवाहक कहलाने वाले विद्वानों, शंकराचार्यों, महामण्डलेश्वरों, रात-दिन केवल मुसलमानों के षड्यन्त्रों का पर्दाफाश करने वाले वक्ता-प्रवक्ताओं, राष्ट्रवाद के कर्णधार माने जाने वाले मंचशूरों, यहूदी व ईसाइयों के षड्यन्त्रों का खुलासा करने वाले अन्वेषकों, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ एवं विश्व हिन्दू परिषद् जैसे स्वयं को हिन्दुओं के संरक्षक समझने वाले संगठनों, वेद पर शोध करने अथवा भाषण देने वाले आर्यसमाजी वा पौराणिक वैदिक विद्वानों, भागवत-रामचरितमानस आदि की कथाएँ करने वाले धनैश्वर्यों से सम्पन्न कथावाचकों, नाना कथित धार्मिक आयोजन करने वालों, आर्यसमाज की सभी सभाओं, ऋषि दयानन्द के नाम से जोशीले महासम्मेलन करने वाले आयोजकों से विनम्र निवेदन करना चाहूँगा कि अपने पैरों के नीचे देखो, तो आपको भूमि दिखाई भी नहीं देगी।

आप लोग हवा में उड़ रहे हैं, इस कारण मुस्लिम, ईसाई, यहूदी, वामपंथी कोई भी आपको उठाकर नीचे पटक-पटककर मार रहा है। आपके वेदों व ऋषियों पर आक्रमण कर रहा है और आप मिथ्या आस्था की अफीम खाकर सो रहे हैं। वेदों पर आक्रमण का उत्तर कुरान व बाइबिल पर आक्रमण से नहीं दिया जा सकता। इसका उत्तर केवल शास्त्रों के वास्तविक एवं वैज्ञानिक स्वरूप को समझकर ही दिया जा सकता है, जो आप में से किसी को स्वीकार नहीं है। आप अपना धन इन आयोजनों, मन्दिर निर्माण आदि में व्यर्थ बहा रहे हैं, मूल को मिटते देखकर भी मौन साधे हैं। वैदिक विज्ञान के लिए आपके पास न धन है, न समय है और न कोई योजना। आपके पास मिथ्या आडम्बरों के लिए

धन भी है और समय भी। तब आपको बचाने कोई देवदूत नहीं आयेगा।

आज जो धर्माचार्य व योग-अध्यात्म का प्रचार करने वाले दिखाई देते हैं, वे वेदविज्ञान की दृष्टि से न केवल अनाड़ी हैं, बल्कि वे वेद में मानवीय इतिहास बताना, अश्लीलता को गृहस्थ धर्म बताना, पशुबलि को वैदिक हिंसा कहकर उचित बताना जैसे अक्षम्य अपराध कर रहे हैं। इसे उनकी अज्ञानता तो कहा ही जायेगा, बल्कि इनके विदेशी वेदविरोधी षड्यन्त्रकारियों से प्रेरित व प्रोत्साहित होने की आशंका से भी इंकार नहीं किया जा सकता। वेदविरोधी बहुत चालाक हैं। वे हमारे ही लोगों को मीर जाफर बना देते हैं।

इस भूमिका के पश्चात् अब मैं आक्षेपों पर विचार करता हूँ—

सर्वप्रथम तो मैं यह कहना चाहूँगा कि प्रत्येक वेदमन्त्र का मूल व स्वाभाविक अर्थ केवल आधिदैविक ही होता है, अन्य अर्थ तो विद्वानों के द्वारा देश, काल व परिस्थिति को दृष्टिगत रखकर किये जाते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है कि ऐसे सभी अर्थ मिथ्या होते हैं। यदि वेद के आधिभौतिक व आध्यात्मिक अर्थ न हों, तो मनुष्य लोकव्यवहार एवं आध्यात्मिक शिक्षा कहाँ से ग्रहण करेगा? आधिदैविक अर्थ सृष्टि के सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन करता है, जबकि लोकव्यवहार के अतिरिक्त सृष्टि के स्थूल पदार्थों की स्थूल विवेचना आधिभौतिक अर्थ में तथा आत्मा-परमात्मा व मोक्ष आदि के साथ-साथ शरीर क्रियाविज्ञान आध्यात्मिक अर्थ के अन्तर्गत मानने चाहिए।

ध्यातव्य है कि एक ही वेद मन्त्र के सृष्टि की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं में किञ्चित् भिन्न प्रभाव भी हो सकते हैं, इस कारण एक ही मन्त्र के आधिदैविक अर्थ भी एक से अधिक हो सकते हैं। वेद में सभी सत्य

विद्याएँ हैं, इस कारण शरीर व ब्रह्माण्ड दोनों की वह समुचित जानकारी, जो मानव के लिए आवश्यक है, वेद में विद्यमान है। कुछ विद्वान् इसी बात की आड़ में अनेक अश्लील बातें व बाह्य जननांगों का घृणित वर्णन करते हैं और ऐसे अभद्र भाष्य भी किये गये हैं। वेद में शरीर क्रियाविज्ञान उस शैली में ही हो सकता है, जो शैली शरीर क्रियाविज्ञान की होती है, जिसमें एक मर्यादा व शालीनता रहती है एवं जिसमें गम्भीर विज्ञान निहित होता है।

दुर्भाग्य इस बात का है कि आज अश्लील बातों को ही गृहस्थ का विज्ञान बताने वालों की भरमार है। ऐसा कहने वाले गृहस्थ को पशुओं से भी नीचे गिरा देते हैं और वेद की गरिमा को चौपट कर देते हैं। मैं ऐसे सभी भाष्यकारों एवं उनके अन्धभक्त विद्वानों के खण्डन के लिए कटिबद्ध हूँ।

* * * * *

इस प्रकरण में आक्षेपकर्त्ता का आक्षेप इस प्रकार है—

आक्षेप—

Yajur Veda 19.88

"Just as a wife, the recipient of semen, at the time of cohabitation keeps her head opposite to the head of the husband, and her face opposite to that of his, so should both husband and wife perform together their domestic duties. A husband is a protector like a physician. He lives happily like a child, and with tranquility produces progeny with penis keen with ardor."

—Tr Devi Chand (Arya Samaj)

Following is the Arya Samaj Hindi translation with commentary–

पदार्थ— हे मनुष्यो! जैसे (जिह्वा) जिससे रस ग्रहण किया जाता है वह (सरस्वती) वाणी के समान स्त्री (अस्य) इस पति के (सतेन) सुन्दर अवयवों से विभक्त शिर के साथ (शिरः) शिर करे तथा (आसन्) मुख के समीप (पवित्रम्) पवित्र (मुखम्) मुख करे। इसी प्रकार (अश्विना) गृहाश्रम के व्यवहार में व्याप्त स्त्री-पुरुष दोनों (इत्) ही वर्त्तें तथा जो (अस्य) इस रोग से (पायुः) रक्षक (भिषक्) वैद्य और (बालः) बालक के (न) समान (वस्तिः) वास

करने का हेतु पुरुष (शेपः) उपस्थेन्द्रिय को (हरसा) बल से (तरस्वी) करने हारा होता है वह (चप्यम्) शान्ति करने के (न) समान (सत्) वर्त्तमान में सन्तानोत्पत्ति का हेतु होवे, उस सब को यथावत् करे।

भावार्थ— स्त्री-पुरुष गर्भाधान के समय में परस्पर मिलकर प्रेम से पूरित होकर मुख के साथ मुख, आँख के साथ आँख, मन के साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसंधान करके गर्भ का धारण करें, जिससे कुरूप वा वक्राङ्ग सन्तान न होवे।

यहाँ आक्षेपकर्त्ता कहना चाहता है कि वेदों में यौन-क्रिया का खुला व अश्लील प्रदर्शन है।

उत्तर— आइये, हम इस पर विचार करते हैं—

मुखꣳ सदस्य शिर इत् सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती।
चप्यं न पायुर्भिषगस्य बालो वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी॥

[यजु.19.88]

पदार्थः — (मुखम्) (सत्) (अस्य) पुरुषस्य (शिरः) (इत्) एव (सतेन) उत्तमावयवैर्विभक्तेन शिरसा। सत् इत्युतरना० (निघं.3.29) (जिह्व) जुहोति गृह्णाति यया सा (पवित्रम्) शुद्धम् (अश्विना) गृहाश्रम-व्यवहारव्यापिनौ (आसन्) आस्ये (सरस्वती) वाणीव ज्ञानवती स्त्री (चप्यम्) चपेषु सान्त्वनेषु भवम्। चप सान्त्वने धातोरेच् ततो यत्। (न) इव (पायुः) रक्षकः (भिषक्) वैद्यः (अस्य) (बालः) बालकः (वस्तिः) वासहेतुः (न) इव (शेपः) उपस्थेन्द्रियम् (हरसा) हरित येन

तेन बलेन (तरस्वी) प्रशस्तं तरो विद्यते यस्य सः।

भावार्थः — स्त्रीपुरुषौ गर्भाधानसमये परस्पराङ्गव्यापिनौ भूत्वा मुखेन मुखं चक्षुषा चक्षुः मनसा मनः शरीरेण शरीरं चानुसंधाय गर्भं दध्यातां यतः कुरूपं वक्राङ्गं वाऽपत्यन्न स्यात्।

आक्षेपकर्त्ता ने जो हिन्दी भाष्य दर्शाया है, वह उपर्युक्त ऋषि दयानन्द कृत भाष्य का ही हिन्दी अनुवाद है।

इनमें से प्रथम मन्त्र का आधिदैविक भाष्य हमने 'वेदार्थ-विज्ञानम्' नामक ग्रन्थ, जो निरुक्त का वैज्ञानिक भाष्य है, में किया है। पाठक उसमें यथास्थान देख सकते हैं। हम फिर कहना चाहेंगे कि वेदमन्त्रों का मूल एवं स्वाभाविक भाष्य आधिदैविक ही होता है, जिसमें सृष्टि विज्ञान प्रकाशित होता है। यहाँ दोनों अर्थ आधिभौतिक ही हैं। इन दोनों अर्थों से दो सन्देश प्रकाशित होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. कोई भी पतिव्रता नारी अपना शरीर अपने पति को ही दिखला सकती है और वैदिक संस्कृति में प्रत्येक नारी को पतिव्रता ही होना चाहिए। परपुरुष का कामभावना से दर्शन करना घोर पापकर्म माना जाता था। विश्व भर में प्रसिद्ध भारतीय क्षत्राणियों के जौहर किसी भी देश, समाज व मजहब में देखने वा सुनने को नहीं मिल सकते। जब अलाउद्दीन खिलजी ने महारानी पद्मिनी देवी को देखने की इच्छा व्यक्त की, तब जो परिणाम हुआ, उसे विश्व में कौन नहीं जानता है? आज भी कामी व बर्बर आक्रान्ताओं के द्वारा विश्वप्रसिद्ध चित्तौड़ दुर्ग को खण्डहर में परिवर्तित करने के अवशेष दिखाई देते हैं। जौहर केवल महारानी पद्मिनी देवी ने ही नहीं किया, उनके अतिरिक्त जालोर, जैसलमेर, सिन्ध आदि अनेकों स्थानों पर हजारों की संख्या में वीर सती क्षत्राणियों ने स्वयं को

जलती ज्वालाओं में जीवित समर्पित कर दिया था। भगवती देवी उमा, सती अनुसूया, भगवती सीता आदि देवियाँ वैदिक संस्कृति में ही मिल सकती हैं, अवैदिकों में कदापि नहीं। उन सबको इन मन्त्रों से ही प्रेरणा मिली थी कि वे अपने शरीर को परपुरुषों को न दिखाएँ। कामी दुष्टों का तो वे मुख भी देखना पाप मानती थी। आज अर्धनग्न घूमने वाली पीढ़ी, कभी भी पति वा पत्नी को वस्तु की भाँति बदलने वाले कामी स्वच्छन्द लोग, युद्धों में महिलाओं को लूटने वाली कामी परम्परा में जन्मे लोग उन्हें मर्यादा सिखाने का दुस्साहस कर रहे हैं, जिन्होंने परनारी को सदैव माता, बहिन वा पुत्री ही समझा है। यहाँ जो मर्यादा महिला के लिए है, वह मर्यादा पुरुषों के लिए भी है। यहाँ ऐसा नहीं है कि नारी तो शरीर को छुपाकर रखे, परन्तु पुरुष किसी की भी नारी को बलपूर्वक अपनी पत्नी वा यौन-दासी बना ले। भगवान् मनु ने परस्त्रीगामी पुरुष तथा परपुरुषगामी महिला दोनों को भयंकर मृत्यु दण्ड का पात्र माना है। जब हमारे आदर्श छत्रपति शिवाजी के सम्मुख उनके सैनिक शत्रु पक्ष की सुन्दरी स्त्री गौहरबानो को लाये, तो शिवाजी महाराज ने उस महिला को माँ का स्वरूप बताया और ससम्मान उसके परिजनों के पास पहुँचाया। सुलेमान रजवी अपने हृदय पर हाथ रखकर बतायें कि यही घटना यदि किसी मुस्लिम आक्रान्ता के साथ घटती, तो वह किसी हिन्दू महिला के साथ क्या करता? वे तो सदैव सुन्दर युवतियों पर ही गिद्ध दृष्टि रखते थे और रजवी महाशय हमें शिक्षा देने चले। काश! आपको इस मन्त्र का आशय समझ में आ जाता।

2. यहाँ दूसरा संकेत भी समझें कि यहाँ महिला को 'जनी' कहा है, जिसका निरुक्तकार ने 'जाया' अर्थ किया है तथा पुरुष को 'पति' कहा है। इसका अर्थ है कि कोई भी पत्नी अपने पति को भी मन्त्र में वर्णित

रीति से अपना शरीर उसी समय दिखला सकती है, जब उसे सन्तान की कामना होती है अर्थात् गर्भाधान प्रक्रिया के समय ही ऐसा करती है, अन्यथा वह अपने पति के साथ और पति अपनी पत्नी के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाना तो दूर की बात है, वे एक-दूसरे के सम्मुख नग्न वा अर्धनग्न भी नहीं रह सकते, यही वेदाज्ञा है। कुरान की आज्ञा तो आप भली-भाँति जानते ही होंगे। वर्तमान में गृहस्थ को विषयासक्ति की खुली अनुज्ञा मानने का जो भारी पाप हो रहा है, उसने संयम-नियम में पशुओं को सर्वथा पीछे छोड़ दिया है। अविवाहित बालक-बालिकाएँ न जाने कैसे-कैसे कुकर्म करने के लिए पापी कानून द्वारा संरक्षित हैं, वे क्या जानें वेदाज्ञा का मर्म। इस विषय में मुझ नैष्ठिक ब्रह्मचारी को जानकारी है भी नहीं कि वर्तमान में क्या-क्या हो रहा है और मुझे ऐसी जानकारियों की कोई आवश्यकता भी नहीं है। इसलिए इतना लिखना भी मेरे लिए पर्याप्त है।

यहाँ दूसरे मन्त्र में गर्भाधान प्रक्रिया की स्थिति को दर्शाया है, साथ ही ऋषि दयानन्द ने उसका कारण भी बताया है कि अन्यथा स्थिति अपनाने से जन्म लेने वाला शिशु विकलांग भी हो सकता है। आज की पीढ़ी, जो आहार, निद्रा, भय, मैथुन, इन चारों ही कर्मों में पशुओं से भी कुछ नहीं सीखना चाहती, जो इन चारों में ही स्वच्छन्दता चाहती है, वह क्या-क्या नहीं करती होगी, यह ईश्वर ही जाने। हाँ, आज मात्र सन्तान के लिए शारीरिक सम्बन्ध बनाने की आज्ञा जैसा कोई प्रतिबन्ध ही नहीं है, तब उन स्वच्छन्द लम्पटों के लिए यह मन्त्र है भी नहीं।

यह मन्त्र तो पूर्ण सदाचारी, उत्तम स्वास्थ्ययुक्त, बलवान् व धार्मिक सन्तान की इच्छा करने वाले दम्पतियों के लिए है। मैंने न कभी इन अनावश्यक कथाओं को सुना, न चर्चा की और न कभी ऐसे चित्र देखे,

तब मुझे नहीं ज्ञात कि संसार में कामी क्या-क्या करते हैं? हाँ, वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत-हिन्दी शब्दकोष में कभी-कभी कुछ ऐसे शब्द दृष्टिगोचर हुए, जिनका अर्थ लिखा था— 'एक प्रकार का रतिबन्ध'। इसके अर्थ से ही पतित मानव की मानसिकता का अनुमान हो गया। इसी कारण दयालु ऋषि दयानन्द, जो ब्रह्मचर्य के महान् पोषक थे तथा बलवती व मेधावी सन्तान को उत्पन्न करने हेतु गृहस्थों को ऋतुगामी होने तथा उत्तमोत्तम स्वास्थ्यवर्धक सात्त्विक भोजन करने का उपदेश करते थे, ने इस मन्त्र के आधिभौतिक भाष्य द्वारा सुसन्तान ही उत्पन्न करने का उपदेश किया है, स्वच्छन्दता का पाठ नहीं पढ़ाया।

ध्यातव्य है कि धार्मिक (साम्प्रदायिक नहीं), परोपकारी, स्वस्थ, प्रज्ञावान् एवं बलवान् सन्तान उत्पन्न करना संसार का सर्वोत्तम कार्य है। उत्तम कोटि का योगी, परोपकारी वैज्ञानिक, दानवीर व उदार धनवान्, पापियों का नाशक शूरवीर क्षत्रिय राजा एवं वेदों का ज्ञाता, महान् त्यागी-तपस्वी और प्रज्ञावान् विद्वान् ही इस संसार को स्वर्ग बना सकते हैं, अन्यथा सम्पूर्ण संसार विनष्ट तो हो ही रहा है। ऐसी सन्तान पैदा करने के लिए ऐसे ही माता-पिता होने चाहिए। वे पूर्ण जितेन्द्रिय व ऋतुगामी होने चाहिए, जो वेद के इन उपर्युक्त सन्देशों से ही हो सकते हैं।

गृहस्थ का वास्तविक धर्म व विज्ञान समझने वाले ही सुसन्तानवान् हो सकते हैं, अन्यथा बच्चे तो सभी पशु-पक्षियों के होते ही हैं। हाँ, यह स्वयं को बुद्धिमान् व सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानने वाला मानव बिना सन्तान पैदा किए अपनी असीम वासना की पूर्ति में रात-दिन लगा रहता है, न्यायालय, शिक्षाविद्, विधायिका एवं मीडिया सभी का वरदहस्त इन सबको सहज प्राप्त है। इससे कभी-कभी ऐसा लगता है कि अब यह पृथिवी सच्चे मनुष्यों के रहने योग्य रही ही नहीं।

हाँ, इतना अवश्य है कि ब्रह्मचर्य व्रत संसार के अन्य सभी उत्तम व्रतों (सत्य-व्रत, अहिंसा-व्रत, अस्तेय वा अपरिग्रह का व्रत) से कठिन है। अन्य व्रतों को भंग करने के लिए प्रेरित करने वाला शरीर में कोई हार्मोन नहीं होता, जबकि काम के प्रेरक हार्मोन आयु के साथ उत्पन्न होते ही हैं, इस कारण यह सर्वाधिक कठिन व्रत है, जिसके लिए बहुत तपस्या करनी पड़ती है और यह तपस्या करनी ही चाहिए, यह मेरा अपना अनुभव है।

सुलेमान रजवी! यदि मेरे इस उत्तर को ध्यान से पढ़ लोगे, तो वेदों पर ऐसे आरोप लगाने का विचार भी नहीं करोगे। हाँ, कई स्थानों पर भाष्यकारों ने अनिष्ट अर्थ किया है, उसका यथास्थान खण्डन करके मैं सत्य अर्थ करूँगा।

* * * * *

आक्षेप—

Transgenderism/Homosexuality in Vedas

We read in newspaper about some Hindu scholars condemning homosexuality. But do they have any evidence that prohibits homosexuality in Hinduism? Hindu scholars fail to furnish any reference from authoritative text like Vedas which condemns homosexuality but still some try to term homosexuality as irreligious act. Fortunately there are some Hindu scholars like Shri Shri Ravishankar who honestly accept such facts, below are two snapshots of his tweets[1]—

Although we are aware of the homosexual act of Vishnu and Shiva but homosexuality/trans–genderism is present in Vedas too. In Veda Indra transformed himself into a woman,

अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
मेनाऽभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या॥

Rig Veda 1.51.13 To old Kaksivin, Soma–presser, skilled in song, O Indra, thou didst give the youthful Vrcaya. Thou [Indra], very wise, was wife [Mena] of Vrisanaiva; those deeds of thine must all be told at Soma feasts.

Griffith has translated the word Mena as daughter/child but according to Brahmana, Purana and lexicons the word Mena denotes wife, woman, or female of any animal. Yaska Acharya gives the following meaning for Mena (also spelled Menah),

मेना ग्ना इति स्त्रीणाम्।

"Menah and Gnah are (synonyms) of Women."

– Nirukta 3.21, Tr. Lakshman Swarup

"Mena–Wife, female" –Cappeller's Sanskrit English Dictionary

It is also confirmed in Satapatha Brahmana that Indra became the wife of Vrishanasva, Satapatha Brahmana 3.3.4.18. 'Come, O Indra!' Indra is the deity of the sacrifice: therefore he says, 'Come, O Indra!' 'Come, O lord of the bay steeds! Ram of Medhatithi! Wife of Vrishanasva!

Bestriding buffalo! Lover of Ahalya' Thereby he wishes him joy in those affairs of his.

Maitrayani Samhita 2.5.5 "When Indra became Vrishanasva's Mena [or wife] he was seized by Nirrti, Calamity. When he chased it away, that Calamity became a castrated animal. Whoever thinks he is seized by Calamity, Darkness, he should sacrifice this castrated animal to Indra."

—Tr. Danielle Feller

Indra is considered the wife of Vrishanasva in Satapatha Brahama, as we all know Indra lusted after Ahalya thus he is also called the lover of Ahalya in the Satapatha Brahmana. From major sources like Satapatha Brahmana and Maitrayani it is proved that Indra indeed became the wife of Vrishnasva.

उत्तर— यहाँ लेखक ने धूर्तता की सीमा ही पार कर दी है, जो वेदों में समलैंगिक सम्बन्धों की बात की है। इसके साथ ही शतपथ ब्राह्मण व मैत्रायणी संहिता के मिथ्या एवं भद्दे अंग्रेजी अनुवादों को भी उद्धृत किया है। रजवी महाशय ने इन ग्रन्थों को देखा भी नहीं होगा, ऐसा मैं दृढ़ता से कह सकता हूँ। यहाँ वेद का कोई भारतीय भाष्यकार लेखक की अश्लील मानसिकता का पोषक नहीं मिला, तो विदेशी ग्रिफिथ जैसे गन्दी मानसिकता वाले अनुवादक को उद्धृत कर दिया। इस मिथ्या अनुवाद में इन्द्र को वृषणश्व की पत्नी बताकर समलैंगिकता सिद्ध कर दी। इसमें निरुक्त को भी घसीट लाए।

इस प्रकार के आक्षेपकर्त्ताओं तथा इनकी कुसभ्यताओं में ऐसे ही पापों की भरमार है, इस कारण इन्हें सर्वत्र यही गन्दगी दिखाई देती है। मेरे मन में विचार आया कि ग्रिफिथ के मन में ऐसा कहाँ से आया, तो मैंने आचार्य सायण का भाष्य देखा, उसमें इन्द्र का वृषणश्व दुहिता हो जाना लिखा है अर्थात् वहाँ भी मूर्खतापूर्ण कथा लिख ही दी, परन्तु पापी ग्रिफिथ ने दुहिता (पुत्री) को पत्नी बना डाला। उन्मत्त प्रलाप में सायण ने इन्द्र को एक कन्या बना दिया, तो ग्रिफिथ ने उसी कन्या को वृषणश्व की पत्नी बना दिया। जब लिंग परिवर्तन कर दिया, तो समलैंगिक सम्बन्ध की बात कहाँ से आ गयी?

वस्तुतः पश्चिमी वेददूषकों को वेदनिन्दा की पर्याप्त सामग्री सायण आदि भारतीय आचार्यों ने ही प्रदान की है। हाँ, उन पश्चिमी वेददूषकों ने अपनी ओर से वेद को और भी विकृत करने की कुचेष्टा अवश्य की है, जिसका प्रमाण यह आक्षेप है। मुस्लिम आक्षेपकर्त्ताओं के वश में नहीं था कि वे सायणादि के वेदभाष्य पढ़ सकें, तो उनके आधार पर अथवा अपनी दूषित मनोवृत्ति के आधार पर किए गये पश्चिमी वेददूषकों का आश्रय लेकर विद्वान् बनने लगे, जैसा कि यहाँ सुलेमान रजवी जैसा अनपढ़ व्यक्ति वेद पर लेखन करने बैठ गया।

अब ऐसे जड़बुद्धि व्यक्तियों अथवा अपने मस्तिष्क में कामुकता का कीचड़ भरे व्यक्तियों को कौन समझाये कि किसी वैदिक पद का प्रत्येक अर्थ सर्वत्र लागू नहीं होता है तथा एक पद के अनेक अर्थ होते हैं, जिन्हें प्रसंगानुसार ही समझना होता है। निरुक्त में 'मेना' स्त्री नामवाची अवश्य है, परन्तु निरुक्त के रचयिता महर्षि यास्क ने अपने निघण्टु, जिसकी व्याख्या निरुक्त में है, में 'मेना' को वाणी का वाचक भी माना है, परन्तु स्त्रियों में आसक्त रहने वाले अथवा समलैंगिकता के पापपंक में डूबे

किसी व्यक्ति को 'मेना' पद का अर्थ वाणी क्यों दिखाई देगा? उन्हें तो सर्वत्र स्त्री ही दिखाई देगी। इसी कारण तो विदेशी आक्रान्ता, जो क्रूर व लुटेरे थे, सुन्दर युवतियों की खोज में रहते थे। ऐसे कामी लोग वेदादि शास्त्रों को समझ ही कैसे सकते हैं?

इस सिरफिरे की बुद्धि भी देखें, जो यह कहता है कि हिन्दुत्व में समलैंगिकता का निषेध कहाँ है? इसने कहाँ से तर्क करना सीख लिया? यदि मैं सुलेमान रजवी से कहूँ कि कुरान में नासिका से भोजन ग्रहण करने का निषेध नहीं तो क्या आप नाक से खाना प्रारम्भ करोगे? कुरान में शीर्षासन करके चलने का निषेध नहीं है, तो क्या सिर के बल चलना प्रारम्भ करोगे? कुरान में महासागर में डूब मरने का निषेध नहीं है, तो क्या महासागर में डूब मरने के लिए तैयार हो? तब कैसे कहते हो कि हिन्दू ग्रन्थों में समलैंगिकता का निषेध नहीं है, इस कारण वेदादि में इसका विधान सिद्ध हो गया? यदि किसी के मजहबी ग्रन्थ में विष्ठा खाने का निषेध नहीं हो, तो उसे विष्ठा खाना प्रारम्भ करना चाहिए? सोच लीजिए, रजवी महाशय! अपने ग्रन्थों को खोल कर देख लो। अरे महाशय! वेदादि शास्त्रों में इस पाप का विधान कहाँ है? जो प्रमाण आपने प्रस्तुत किया है, उसका अन्त्य परीक्षण (पोस्टमार्टम) तो मैंने कर दिया।

श्री श्री रविशंकर के समर्थन को रजवी अपना सौभाग्य मान रहे हैं। यदि कोई व्यक्ति वा मजहब किसी दूसरे को नीचा दिखाने से ही स्वयं को उच्च मानने लगे, तो समझना चाहिए कि उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। यदि कोई समतल स्थान किसी गड्ढे को देखकर स्वयं को पर्वत मानने लगे, तो यह उसकी मूर्खता है। तब जो किसी निष्कलंक, पवित्र व महान् ज्ञान-विज्ञान के भण्डार रूपी ग्रन्थ वेद वा ऐसी वैज्ञानिक पावन

परम्परा को नीचा दिखाने के लिए निम्न श्रेणी के लोगों का आश्रय ले, तो उसे महामूर्खता व धूर्तता ही कहा जायेगा। यदि आपके द्वारा दर्शाये गये कथन वास्तव में श्री रविशंकर के हैं, तब वे भी स्वच्छन्द यौनाचार के वहशी, पशुता के अभिभाषक एवं उसी में डूबे ओशो (रजनीश) की श्रेणी में खड़े हैं। शोक है कि हिन्दू समाज में ऐसे स्वच्छन्दी भी भगवान् बन जाते हैं, तब रजवी जैसों का दोष ही क्या है?

अब हम इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द का भाष्य उद्धृत करते हैं—

अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
मेनाऽभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या॥

[ऋग्वेद 1.51.13]

पदार्थः — (अददाः) देहि (अर्भाम्) अल्पामपि शिल्पक्रियां वाचं वा (महते) महागुणविशिष्टाय (वचस्यवे) आत्मनो वचः शास्त्रोपदेशमिच्छवे (कक्षीवते) कक्षाः प्रशस्ताङ्गुलय इव विद्याप्रान्ता विद्यन्ते यस्य तस्मै। कक्षा इत्यङ्गुलिना. (निघं.2.5) (वृचयाम्) छेदनभेदनप्रकाराम् (इन्द्र) शिल्पक्रियाविद्विद्वन् (सुन्वते) शिल्पविद्यानिष्पादकाय (मेना) वाणी। मेनेति वाङ्ना. (निघं.1.11) (अभवः) भव (वृषणश्वस्य) वृषणो वृष्टिहेतवो यानगमयितारो वाऽश्वा यस्य तस्य। वा.— वृषण्वस्वश्वयोश्च। [अ.] 1.4.18। अनेन यचि भम्। इति सूत्रस्थ वार्तिकेन भसंज्ञाकरणान्नलोपो न णत्वं च भवति (सुक्रतो) शोभनाः क्रतवः प्रज्ञाः कर्माणि वा यस्य तत्सम्बुद्धौ (विश्वा) सर्वाणि (इत्) एव (ता) तानि (ते) तव (सवनेषु) सुन्वन्ति सुवन्ति यैः कर्मभिस्तेषु (प्रवाच्या) प्रकृष्टतया वक्तुं योग्या।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। विद्वद्भिरग्न्यादिपदार्थविद्यादानं कृत्वा सर्वेभ्यो हितं निष्पादनीयमिति।

पदार्थ— हे (सुक्रतो) शोभनकर्मयुक्त (इन्द्र) शिल्पविद्या को जानने वाले विद्वान्! तू (वचस्यवे) अपने को शास्त्रोपदेश की इच्छा करने वा (महते) महागुण विशिष्ट (सुन्वते) शिल्पविद्या को सिद्ध करने (कक्षीवते) विद्याप्रान्त अङ्गुली वाले मनुष्य के लिये जिस (वृचयाम्) छेदनभेदनरूप (अर्भाम्) थोड़ी भी शिल्पक्रिया को (अददाः) देते हो (सवनेषु) प्रेरणा करने वाले कर्मों में (प्रवाच्या) अच्छे प्रकार कथन करने योग्य (मेना) वाणी (वृषणश्वस्य) शिल्पक्रिया की इच्छा करने वाले (ते) आपके (विश्वा) सब कार्य्य हैं (ता) (इत्) उन ही के सिद्ध करने को समर्थ (अभवः) हूजिये।

भावार्थ— विद्वान् मनुष्यों को अग्नि आदि पदार्थों से विद्यादान करके सब मनुष्यों के लिये हित के काम करने चाहियें।

यह भाष्य रजवी जैसे वेदनिन्दकों को दिखाई नहीं दिया, क्या करें, काकवृत्ति छूटती ही नहीं। इस भाष्य को पढ़कर यदि कुछ भी समझ पाओगे, तो कदाचित् बुद्धि का कुछ प्रकाश होवे। इस मन्त्र में समलैंगिकता जैसा पाप बताने में तनिक भी लज्जा नहीं आयी?

अब हम शतपथ के उद्धरण पर विचार करते हैं—

मुझे विश्वास है कि शतपथ ब्राह्मण वा मैत्रायणी संहिता दोनों ही ग्रन्थ आक्षेपकर्त्ता ने पढ़े तो क्या, अच्छी प्रकार से देखे भी नहीं होंगे, केवल किसी मूढ़ व्यक्ति द्वारा किए गये किसी अंग्रेजी अनुवाद का आश्रय लेकर आक्षेप कर दिया। हम यहाँ शतपथ ब्राह्मण का वचन उद्धृत करते हैं—

"इन्द्रागच्छेति। इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेनद्रागच्छेति हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने...।"

यहाँ हम केवल आक्षेपकर्त्ता द्वारा लगाए गये आक्षेप वाले पद ही लेते हैं—

'वृषणश्वस्य मेने'

हम 'मेना' पद पर पूर्व में ही विचार कर चुके हैं कि इस पद का अर्थ स्त्री के साथ ही वाणी भी होता है, अतः प्रसंगानुसार ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए, परन्तु जिनका वैदिक वा आर्ष ग्रन्थों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है अर्थात् जो इस विषय में न तो कुछ जानते हैं और न जानने की इच्छा ही रखते हैं, उन्हें प्रसंगानुसार अर्थ ग्रहण करना कैसे आयेगा? यहाँ 'वृषणश्व' पद का अर्थ है—

वे कण, जो अति तीव्र वेग से गमन करते एवं जिनमें तीव्र बल होता है अर्थात् जिनकी ऊर्जा बहुत अधिक होती है। यहाँ 'वृषु सेचने हिंसा-संक्लेशनयोः' धातु का प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि ऐसे कण आदि पदार्थ, जो तीव्र हिंसक अर्थात् छेदन-भेदन बलों से युक्त होते हैं, वृषणश्व कहलाते हैं। उनकी वाणी अर्थात् ऐसे पदार्थों में से निकलने वाली वाक् रश्मियाँ भी अति तीव्र बलयुक्त होती हैं, इस कारण इन्हें इन्द्र कहते हैं।

वे कहाँ से इन्द्र व वृषणश्व को समलैंगिक बता रहे हैं? हे महाशय! वेदविद्या सात्त्विकी प्रज्ञा से सम्पन्न विद्वानों का विषय है, मांसाहारी, तामसी व ईर्ष्या-द्वेष से ग्रस्त लोगों का विषय नहीं।

मैत्रायणी संहिता में भी ये ही पद हैं, इस कारण उनका समाधान भी यही समझ लें।

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

आक्षेप—

There's a verse in Rig Veda which reads as,

यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम्।
सहस्त्रमुष्क तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे॥

Rig Veda 6.46.3

"We invoke that Indra who is the destroyer of mighty foes, the supervisor (of all things): do thou, the many–organed, the protector of the good, the distributor of wealth, be unto us (the insurer of) success in combats."

—Tr. H.H. Wilson

The Sanskrit word mentioned here to describe Indra is Sahastra+Mushka which means thousand vaginas/testicles. Some translators including Griffith has translated this word as "thousand powers" but I do not agree with it since the word Mushka clearly means Vagina/Testicles, Mushka here definitely means vagina because there is evidence from other Hindu text to support "thousand vagina" definition.

Whether the word Mushka means Vagina or testicle is not an issue but a Vedic god described as being with "A Thousand Testicles" in holy scripture is surely obscene.

One can check the meaning of Mushka in V.S Apte's dictionary available online uchicago.edu and also from another online dictionary Spokensanskrit.de.

The story as mentioned in Skanda Purana V.iii. 136.2–16; Brahma Purana, Gautami–Mahatmya 16.59 states that Indra was cursed by Sage Gautama to be with one thousand Vaginas all over the body as Indra had raped Sage Gautam's wife Ahalya which I have explained briefly in Hinduism and Lust article.

Maharshi Yaska mentions a strange story about the birth of Asvins (the twin horsemen). Which is a elaboration of Rig Veda Mandal 10, hymn 17. The story says Saranyu was unwilling to have sex with Vivasvat and ran away but Vivasvat chased her and raped her. Yaska writes,

Nirukta 12.10 "Saranyu daughter of Tvastr bore twins, Yama and Yami, to Vivasvat the sun. She having substituted another lady of similar appearance, and having assumed the shape of a mare, ran away. He, Vivasvat, the sun, having also assumed the shape of a horse, pursued her, and joined her. Thence the Asvins were born. Manu was born from the lady of similar appearance."

—Tr. Lakshman Swarup

This story of Vivasvat raping his wife by inserting penis in her mouth is further elaborated in Brahma Purana 4.42–43; Shiva Purana, UmaSamhita 5.35.

32–34; Matsya Purana 11.34–37 and Brahmanda Purana 2.3.59.74–76 which I have mentioned in Hinduism and Lust article under Oral Sex category. The question is how sun god was aroused seeing his wife who was in the form of a mare? It must have been that Vedic god Vivaswat was sexually attracted towards animals that's the reason he raped his wife whilst she was in the form of a mare. But Vedas also has mention of bestiality.

उत्तर— इस मन्त्र का सुलेमान रजवी ने स्वयं अनुवाद करने का मूर्खतापूर्ण प्रयास किया है। यहाँ इसे मनोनुकूल अर्थात् कामुक प्रकृति के अनुकूल कोई भाष्य नहीं मिला, तो स्वयं ही अर्थ करने बैठ गया। बार-बार ग्रिफिथ को उद्धृत करने वाला यह व्यक्ति यहाँ ग्रिफिथ के अनुवाद से असहमति जताकर 'मुष्क' शब्द का अर्थ योनि अथवा अण्डकोश करने लगा और लौकिक संस्कृत-हिन्दी कोशों का प्रमाण देने लगा। वेदविद्या से अनभिज्ञ विल्सन व ग्रिफिथ के वेद-अनुवादों के साथ-साथ वामन शिवराम आप्टे द्वारा रचित 'संस्कृत हिन्दी कोश' का सहारा लेकर वेद मन्त्र का भाष्य करना, उस पर भी इन पश्चिमी अनुवादकों को भी उपेक्षित करके अपनी स्वयं की कालिमा को वेद पर आरोपित करना आक्षेपकर्त्ता की बेईमानी का स्पष्ट परिचायक है।

इस व्यक्ति को इतनी भी समझ नहीं है कि वैदिक व लौकिक संस्कृत में बहुत भेद है तथा लौकिक संस्कृत में भी एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जिनमें से प्रकरण के अनुसार उचित अर्थ का ग्रहण करना होता है, तब वैदिक संस्कृत का लौकिक शब्दकोषों के अनुसार अनुवाद

कर देना तो मात्र पागलपन वा ईर्ष्या-द्वेष का परिचायक है।

रजवी महाशय! इन्द्र व अहल्या का रहस्य जानने के लिए शतपथ ब्राह्मण 3.3.8.18 तो आपकी बुद्धि में कभी नहीं आ सकेगा, इस कारण मैं आपको ऋषि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ही पढ़ने का परामर्श दूँगा। शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र का एक विशेषण अहल्याजार दिया है। इस प्रसंग में अहन् अर्थात् दिन का जिसमें लय होता है, उस रात्रि को अहल्या कहा गया है। रात्रि को जीर्ण वा नष्ट करने वाला सूर्य अहल्या का जार कहा गया है। इस वैज्ञानिक प्रसंग की कैसी कुत्सित व्याख्या की है और एक लम्बी मिथ्या कथा भी लिख डाली। इन दो पदों से मध्य काल में किसी पापी, राष्ट्र व धर्मद्रोही संस्कृत-भाषाविद् ने अपने मन की मलिनता को प्रकट करते हुए इन्द्र व अहल्या की पूरी अश्लील कथा बनाकर वाल्मीकीय रामायण में जोड़ दी।

भगवान् श्रीराम को परमपिता परमात्मा का अवतार सिद्ध करने, एतदर्थ देवी अहल्या तथा देवराज इन्द्र को व्यभिचारी सिद्ध करने और रामचरितमानस में तो अहल्या के पत्थर बन जाने और श्रीराम के चरणों की रज के स्पर्श से पत्थर से पुनः नारी बन जाने की मनगढ़न्त कथाएँ जोड़ने के पाप वेदद्रोहियों ने किए हैं। इन लोगों ने श्रीराम को ईश्वर सिद्ध करने के प्रयास में देवी अहल्या एवं देवराज इन्द्र जैसे महान् आत्माओं को दुराचारी बताने में जरा भी संकोच नहीं किया।

यहाँ सुलेमान रजवी 'सहस्रमुष्क' का अर्थ 'असङ्ख्य पराक्रम वाला' न मानकर सहस्र योनि वा सहस्र अण्डकोष वाला मान रहे हैं। क्या सुलेमान रजवी इस बात को स्वीकार करते हैं कि किसी के शरीर में हजार योनि वा अण्डकोष होवें? यदि ऐसा ही है, तब ऐसे लोगों के

आक्षेपों का उत्तर देने में मुझे अपना समय नष्ट नहीं करना चाहिए। यदि रजवी इन्द्र व अहल्या की कथा को सत्य मानते हैं, तब तो वे यह भी मानते होंगे कि भगवान् श्रीराम के चरण रज से पत्थर की अहल्या पुनः स्त्री बन गयी? हाँ, यह बात पृथक् है कि वाल्मीकीय रामायण में अहल्या के पत्थर होने तथा पुनः स्त्री बन जाने की चर्चा तक नहीं है। यह गोस्वामी तुलसीदास के मन की कल्पना है।

यदि सुलेमान रजवी वाल्मीकीय रामायण को ही प्रमाण मानते हैं, तब वे यह भी मानेंगे कि भगवान् श्रीराम विश्व के महानतम व्यक्ति थे, जो विश्व के नायक थे और उस समय संसार में वैदिक धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई मजहब नहीं था। ऐसी स्थिति में रजवी महाशय के पूर्वज भी भगवान् श्रीराम के आदर्शों की श्रेष्ठता स्वीकार करने वाले रहे होंगे, वे भी वेद के मानने वाले होंगे, तब उन्हें आज पुनः उसी वैदिक धर्म की शरण में आ जाना चाहिए। यदि आप (रजवी) स्वयं को असुरों वा राक्षसों का वंशज मानते हो, तब वे भी उस समय वेद को ही मानने वाले होते थे। इस कारण भी रजवी महाशय को पुनः वैदिक धर्मी बन जाना चाहिए, किसी नवीन मिथ्या मजहब में क्यों रहना चाहिए?

अब हम इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द का भाष्य उद्धृत करते हैं—

यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम्।
सहस्रमुष्क तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे॥

[ऋग्वेद 6.46.3]

पदार्थः — (यः) (सत्राहा) सत्यदिनानि (विचर्षणिः) विद्वान्मनुष्यः (इन्द्रम्) ऐश्वर्य्ययुक्तम् (तम्) (हूमहे) प्रशंसामः (वयम्) (सहस्रमुष्क) असङ्ख्यवीर्य्य (तुविनृम्ण) बहुधन (सत्पते) सतां विदुषां पालक

(भवा) अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः। (समत्सु) सङ्ग्रामेषु (नः) अस्माकम् (वृधे) वर्धनाय।

भावार्थः — तमेव वयं प्रशंसामो यः प्रतिदिनमस्माकं रक्षां विधत्ते तमेव वयं सङ्ग्रामे संरक्षेम।

पदार्थ— हे (सहस्रमुष्क) असङ्ख्य पराक्रम वाले (तुविनृम्ण) बहुत धनों से युक्त (सत्पते) विद्वानों के पालने वाले अत्यन्त ऐश्वर्य्य से युक्त (यः) जो (विचर्षणिः) विद्वान् मनुष्य (सत्राहा) सत्य दिनों में (इन्द्रम्) अत्यन्त ऐश्वर्य्य से युक्त को पुकारता है वैसे (तम्) उसकी (वयम्) हम लोग (हूमहे) प्रशंसा करते हैं और आप (समत्सु) सङ्ग्रामों में (नः) हम लोगों की (वृधे) वृद्धि के लिये (भवा) हूजिये।

भावार्थ— उसी की हम लोग प्रशंसा करते हैं, जो प्रतिदिन हम लोगों की रक्षा करता है और उसी की हम लोग सङ्ग्राम में रक्षा करें।

रजवी जी इस भाष्य को भी देख लें और फिर गम्भीरता से विचारें कि क्या इसमें भी कोई समस्या है?

यहाँ वीर सेनापति वा राजा को इन्द्र कहा है और राजा वा सेनापति का अनेक प्रकार के पराक्रमों से युक्त होना अनिवार्य है। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक वह अपने राष्ट्र की सुरक्षा कर ही नहीं सकता। यहाँ 'मुष्क' का अर्थ वीर्य अर्थात् पराक्रम किया है। ऋषि दयानन्द ने उणादि कोष 3.41 में 'मुष्कः' पद की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—

'मुष्यत आव्रियत इति मुष्कः, अण्डकोषः सङ्घातो वा'

यहाँ सङ्घात व अण्डकोष दोनों ही अर्थ दिए हैं। प्रकरण के अनुसार यहाँ अण्डकोष अर्थ हो ही नहीं सकता, क्योंकि किसी के भी हजार वा

असङ्ख्य वा अनेक अण्डकोष नहीं हो सकते। जो ऐसा अर्थ करता है, उसे किसी मानसिक चिकित्सालय में भर्ती करा देना चाहिए, जिससे उसमें कुछ सोचने की क्षमता उत्पन्न हो सके। हाँ, एक राजा वा सेनापति शत्रुसेना पर अनेक प्रकार से संघात कर सकता है, इस कारण उसे यहाँ सहस्त्रमुष्क कहा गया है। 'मुष्कः' पद 'मुष् स्तेये' धातु से व्युत्पन्न होता है अर्थात् जो छिपा रहता है, उसे मुष्क कहते हैं। राजा वा विद्युत् के पराक्रम साधारणतः छुपे रहते हैं। जब ये क्रियाशील होते हैं, तभी इनके पराक्रम प्रकट होते हैं।

आधिदैविक पक्ष में तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों को इन्द्र कहते हैं और विद्युत् के पराक्रम भी असंख्य होते हैं, विद्युत् असंख्य प्रकार से कण आदि सूक्ष्म पदार्थों से लेकर विशाल लोकों तक अनेक प्रकार के संघातों को जन्म देती है। इस कारण विद्युत् रूपी इन्द्र को भी सहस्त्रमुष्क कहा जाता है।

अब देखिए, सुलेमान रजवी ने सहस्त्रमुष्क पद से ही देवराज इन्द्र द्वारा देवी अहल्या के साथ कुकर्म की कहानी गढ़ ली। वस्तुतः जिसकी जैसी प्रवृत्ति होती है, वह सर्वत्र वैसा ही देखता है।

* * * * *

आक्षेप—

Sex with Animals

Some protestant Hindus proudly promote Vedas as philosophical, free from all vulgarities. But in reality there is no limit for Vulgarity in Vedas. It even promotes sex with animals let alone adultery and pornography. Sex with animals in Hinduism is not a vulgar thing, Ancient Hindu temples like Khajuraho, Ajanta, Ellora clearly depicts men and girls having sex with animals.

Ashvamedha Yajna

Read the article Ashvamedha Yajna the obscene for more evidence Ashvamedha Yajna is a ritual performed by Queens (particularly by chief queen) for fertility and also to gain power in the kingdom. The Ashvamedha Yajna includes slaughtering the horse, then follows the obscene Queen's intercourse with the horse, then the horse is cut into pieces and cooked. However some Hindus due to extreme obscenity reject these facts and are giving their personal interpretations. They even deny the fact that Horse was slaughtered during the ritual, I request the readers to go through the article Meat Consumption in Hinduism.

It is mentioned both in Krishna and Yajur Veda, but the this sacrifice mentioned in Krishna Yajur Veda is obscure because the author has omitted those verses,

Krishna Yajur Veda 7.4.19 The wicked horse is sleeping. O fair one, clad in fair raiment in the world of heaven be ye two covered ...{...several verses omitted from original translation...}

Sacred–texts.com

It is mentioned in Shukla Yajur Veda,

Yajur Veda 23.19–21 All wife of the host reciting three mantras go round the horse. While praying, they say: 'O horse, you are, protector of the community on the basis of good qualities, you are, protector or treasure of happiness. O horse, you become my husband'. After the animal is purified by the priest, the principal wife sleeps near the horse and says: 'O Horse, I extract the semen worth conception and you release the semen worth conception. The horse and principal wife spread two legs each. Then the Ardhvaryu (priest) orders to cover the oblation place, raise canopy etc. After this, the principal wife of the host pulls penis of the horse and puts it in her vagina and says:

"This horse may release semen in me."

Then the host, while praying to the horse says:

"O horse, please throw semen on the upper part of the anus of my wife.

> Expand your penis and insert it in the vagina because after insertion, this penis makes women happy and lively."

उत्तर— यहाँ ये महाशय खजुराहो आदि के मन्दिरों की घृणित मूर्तियों की अश्लीलता का दोष वेद पर मढ़ रहे हैं, यह मानसिक दिवालियेपन का प्रतीक है। इसी अश्लीलता की पुष्टि के लिए अश्वमेध यज्ञ की चर्चा प्रारम्भ कर दी। वैदिक सनातन धर्म के ध्वजवाहकों ने वेदभाष्य करने में जो पागलपन का परिचय दिया है, उसे पढ़ने, लिखने, सुनने व सुनाने में लज्जा आती है।

आचार्य महीधरकृत यजुर्वेद भाष्य के कुछ मन्त्रों के भाष्य को ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उद्धृत किया है, उसे पढ़ना भी अत्यन्त लज्जाजनक है। बड़ा आश्चर्य होता है कि ऐसा भाष्य करते समय महीधर के हाथ क्यों नहीं काँपे? क्यों बड़े-2 शंकराचार्य एवं अन्य पौराणिक विचारधारा के वैदिक विद्वान् महीधर के भाष्य को ही प्रमाण मानकर ऋषि दयानन्द को गाली प्रदान करने में ही सनातन धर्म की जय मानते हैं? इसी कारण इन आक्षेपों पर मौन साधे बैठे हैं।

वस्तुतः आज लोग धाराप्रवाह संस्कृत भाषा बोलने व लिखने वाले एवं व्याकरण के विद्वान् को ही वेदवेत्ता मान बैठते हैं, यही अज्ञानता पौराणिक व आर्यसमाजी दोनों ही पक्षों में देखी जाती है। उन्हें वेद वा आर्ष ग्रन्थों पर घृणित आक्षेप तो स्वीकार्य हैं, उन्हें किसी संस्कृत भाषाविद् द्वारा फैलाई अश्लीलता आदि पाप तो स्वीकार हैं, परन्तु इससे इतर किसी वैदिक व वैज्ञानिक मेधासम्पन्न व्यक्ति द्वारा वेद व आर्षग्रन्थों

के गौरव को बढ़ाने के प्रयास कदापि स्वीकार्य नहीं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इन्हें संस्कृत भाषा में गाली सुनना तो अच्छा लगता है, परन्तु हिन्दी भाषा में सम्मानसूचक गौरवगान इन्हें स्वीकार्य नहीं। इन्हीं की कुमति के चलते सुलेमान रजवी जैसे वेद से नितान्त अनभिज्ञ वेद पर प्रहार कर रहे हैं और सभी मंचशूर मौनव्रती बने हुए हैं।

जिन मन्त्रों की चर्चा आक्षेपकर्त्ता ने की है, हम उन मन्त्रों का ऋषि दयानन्द द्वारा किया हुआ भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे।
निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम आहमजानि गर्भधमा
त्वमजासि गर्भधम्॥ [यजु.23.19]

पदार्थः — (गणानाम्) समूहानाम् (त्वा) त्वाम् (गणपतिम्) समूह-पालकम् (हवामहे) स्वीकुर्महे (प्रियाणाम्) कमनीयानाम् (त्वा) (प्रियपतिम्) कमनीयं पालकम् (हवामहे) (निधीनाम्) विद्यादिपदार्थ-पोषकाणाम् (त्वा) (निधिपतिम्) निधीनां पालकम् (हवामहे) (वसो) वसन्ति भूतानि यस्मिन्त्स वसुस्तत्सम्बुद्धौ (मम) (आ) (अहम्) (अजानि) जानीयाम् (गर्भधम्) यो गर्भं दधाति तम् (आ) (त्वम्) (अजासि) प्राप्नुयाः (गर्भधम्) प्रकृतिम्।

भावार्थः — हे मनुष्याः! यः सर्वस्य जगतो रक्षक इष्टानां विधातैश्वर्य्याणां प्रदाता प्रकृतेः पतिः सर्वेषां बीजानि विदधाति तमेव जगदीश्वरं सर्व उपासीरन्।

पदार्थ— हे जगदीश्वर! हम लोग (गणानाम्) गणों के बीच (गणपतिम्) गणों के पालने हारे (त्वा) आप को (हवामहे) स्वीकार करते (प्रियाणाम्) अतिप्रिय सुन्दरों के बीच (प्रियपतिम्) अतिप्रिय सुन्दरों के

पालने हारे (त्वा) आप की (हवामहे) प्रशंसा करते (निधीनाम्) विद्या आदि पदार्थों की पुष्टि करने हारों के बीच (निधिपतिम्) विद्या आदि पदार्थों की रक्षा करने हारे (त्वा) आप को (हवामहे) स्वीकार करते हैं। (वसो) परमात्मन्! जिस आप में सब प्राणी वसते हैं सो आप (मम) मेरे न्यायाधीश हूजिये जिस (गर्भधम्) गर्भ के समान संसार को धारण करने हारी प्रकृति को धारण करने हारे (त्वम्) आप (आ, अजासि) जन्मादि-दोषरहित भलीभांति प्राप्त होते हैं उस (गर्भधम्) प्रकृति के धर्त्ता आप को (अहम्) मैं (आ, अजानि) अच्छे प्रकार जानूँ।

भावार्थ— हे मनुष्यो! जो सब जगत् की रक्षा, चाहे हुए सुखों का विधान, ऐश्वर्य्यों का भलीभांति दान, प्रकृति का पालन और सब बीजों का विधान करता है, उसी जगदीश्वर की उपासना सब करो।

ताऽउभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके
प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु॥ [यजु.23.20]

पदार्थः — (तौ) प्रजाराजानौ (उभौ) (चतुरः) धर्मार्थकाममोक्षान् (पदः) प्राप्तव्यान् (संप्रसारयाव) विस्तारयावः (स्वर्गे) सुखमये (लोके) द्रष्टव्ये (प्र) (ऊर्णुवाथाम्) प्राप्नुयाथाम् (वृषा) दुष्टानां शक्तिबन्धकः (वाजी) विज्ञानवान् (रेतोधाः) यो रेतः श्लेषमालिङ्गनं दधाति सः (रेतः) वीर्यं पराक्रमम् (दधातु)।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यदि राजप्रजे पितापुत्रवद्वर्त्तेयातां तर्हि धर्मार्थकाममोक्षफलसिद्धिं यथावत्प्राप्नुयातां यथा राजा प्रजासुखबले वर्द्धयेत्तथा प्रजा अपि राज्ञः सुखबले उन्नयेत्।

पदार्थ— हे राजाप्रजाजनो! तुम (उभा) दोनों (तौ) प्रजा राजाजन जैसे (स्वर्गे) सुख से भरे हुए (लोके) देखने योग्य व्यवहार वा पदार्थ में

(चतुरः) चारों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पदः) जो कि पाने योग्य हैं उन को (प्रोर्णुवाथाम्) प्राप्त होओ वैसे इनका हम अध्यापक और उपदेशक दोनों (संप्रसारयाव) विस्तार करें जैसे (रेतोधाः) आलिङ्गन अर्थात् दूसरे से मिलने को धारण करने और (वृषा) दुष्टों के सामर्थ्य वर्षाने अर्थात् उनकी शक्ति को रोकने हारा (वाजी) विशेष ज्ञानवान् राजा प्रजाजनों में (रेतः) अपने पराक्रम को स्थापन करे वैसे प्रजाजन (दधातु) स्थापन करें।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो राजा-प्रजा पिता और पुत्र के समान अपना वर्त्ताव वर्तें, तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फल की सिद्धि को यथावत् प्राप्त हों। जैसे राजा प्रजा के सुख और बल को बढ़ावे, वैसे प्रजा भी राजा के सुख और बल की उन्नति करे।

उत्सक्थ्याऽअव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्।
य स्त्रीणां जीवभोजनः॥ [यजु.23.21]

पदार्थः — (उत्सक्थ्या) ऊर्ध्वं सक्थिनी यस्यास्तस्याः प्रजायाः (अव) (गुदम्) क्रीडाम् (धेहि) (सम्) (अञ्जिम्) प्रसिद्धन्यायम् (चारय) प्रापय। अत्र संहितायामिति दीर्घः (वृषन्) शक्तिमन् (यः) (स्त्रीणाम्) (जीवभोजनः) जीवा भोजनं भक्षणं यस्य सः।

भावार्थः — हे राजन्! ये विषयसेवायां क्रीडन्तो जनः क्रीडन्त्यः स्त्रियो वा व्यभिचारं वर्द्धयेयुस्ते ताश्च तीव्रेण दण्डेन शासनीयाः।

पदार्थ— हे (वृषन्) शक्तिमन्! (यः) जो (स्त्रीणाम्) स्त्रियों के बीच (जीवभोजनः) प्राणियों का मांस खाने वाला व्यभिचारी पुरुष वा पुरुषों के बीच उक्त प्रकार की व्यभिचारिणी स्त्री वर्त्तमान हो उस पुरुष और स्त्री को बाँधकर (उत्सक्थ्याः) ऊपर को पग और नीचे को शिर कर

ताड़ना करके और अपनी प्रजा के मध्य (अव, गुदम्) उत्तम सुख को (धेहि) धारण करो और (अञ्जिम्) अपने प्रकट न्याय को (सम्, चारय) भली भाँति चलाओ।

भावार्थ— हे राजन्! जो विषय सेवा में रमते हुए जन वा वैसी स्त्री व्यभिचार को बढ़ावें, उन उन को प्रबल दण्ड से शिक्षा देनी चाहिये।

इन मन्त्रों का आधिदैविक भाष्य करके सृष्टि के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया जा सकता है और मैंने ऐसी घोषणा की भी थी, परन्तु अनेक आर्यों के आग्रह पर मैं अब वेदभाष्य करने की ही घोषणा कर चुका हूँ, इस कारण अब केवल आक्षेपों का उत्तर मात्र देकर आगे बढ़ता जा रहा हूँ। पाठक जब इस प्रकरण तथा पूर्व प्रकरण की भूमिका को हृदयंगम कर लेंगे, तभी यह समझ में आ पायेगा कि किस मिथ्या अवधारणा के कारण इन मन्त्रों के अश्लील अर्थ किये गये हैं?

यहाँ भाष्य करने वाला अपने भाष्य वा व्याकरण-ज्ञान के मद में बुद्धि का बालवत् प्रयोग भी नहीं कर पाया, तो पाठकों और वेद पर आक्षेप लगाने वालों को तो बुद्धि का सामान्य उपयोग करने का प्रयास करना चाहिए। भला घोड़े का किसी मानवी से शारीरिक सम्बन्ध कैसे सम्भव है? जिनमें इतनी भी बुद्धि नहीं, वे वेदभाष्यकार, वेद के विद्वान् वा वेदों पर आक्षेपकर्त्ता बन गये। यह नितान्त मूर्खों की भीड़ में ही सम्भव है, सामान्य बुद्धि वाले बच्चों में भी कदापि सम्भव नहीं है।

* * * * *

आक्षेप—

Incest in Vedas Rig Veda 10.61.5–7

"(Rudra), the benefactor of man, whose eager virile energy was developed, drew it back when disseminated (for the generation of offspring) again the irresistible (Rudra) concentrates (the energy) which was communicated to his maiden daughter. When the deed was done in mid–heaven in the proximity of the father working his will, and the daughter coming together, they let the seed fall slightly; it was poured upon the high place of sacrifice.

When the father united with the daughter, then associating with the earth, he sprinkled it with the effusion [Semen]: then the thoughtful gods begot Brahma : they fabricated the lord of the hearth (of sacrifice) ; the defender of sacred rites."

—Tr. H.H. Wilson

Following Hindi translation is by Pandit Ram Govind Trivedi

1. जिस समय पिता युवती कन्या (उषा) के ऊपर पूर्वोक्त रूप से रतिकामी हुए और दोनों का संगमन हुआ, उस समय दोनों के परस्पर संगमन से अल्प शुक्र का सेक हुआ। सुकर्म के आधार–स्वरूप एक उन्नत स्थान में उस शुक्र का सेक हुआ।

2. जिस समय पिता ने अपनी कन्या (उषा) के साथ संभोग किया, उस समय पृथिवी के साथ मिलकर शुक्र का सेक किया। सुकृती देवों ने इससे व्रतरक्षक ब्रह्म (वास्तोष्पति वा रुद्र) का निर्माण किया।

3. जैसे इन्द्र, नमुचि के वध-काल में, युद्ध में फेन फेंकते हुए आये थे, वैसे ही मेरे पास से वास्तोष्पति ने प्रतिगमन किया। वे जिस पैर से आये थे, उसी से लौट गये। अङ्गिरा लोगों ने मुझे दक्षिणा-स्वरूप जो गायें दी थीं, उन्हें उन्होंने दूर किया। अनायास ग्रहण-समर्थ होने पर भी उन्होंने गायों को नहीं लिया।

Some scholars say Rig Veda 10.61.5–7 verses are about the creation of universe after the union of father with his daughter. This is supported by Brihadaranyaka Upanishad, Upanishad also permits sex with daughter, its mentioned in Brihadaran–yaka Upanishad that men were born after God had intercourse with his daughter,

Birhadaranyaka Upanishad 1.4.3

"He was not at all happy. Therefore people (still) are not happy when alone. He desired a mate. He became as big as man and wife embracing each other. He parted this very body into two. From that came husband and wife.

Therefore, said Yajnavalkya, this (body) is one–half of oneself, like one of the two halves of a split pea. Therefore this space is indeed filled by the wife. He was united with her. From that men were born."

—Tr. Swami Madhavananda

AdiShankara Acharya writes on this verse,

"He, the Viraj called Manu, was united with her, his daughter called Satarupa, whom he conceived of as his wife. From that union men were born."

—Shankara on Brihadaranyaka Upanishad 1.4.3, Shankara Bhashya, P.101, Tr. Swami Madhavananda

Hindus argue that this incest is merely allegorical and thus shouldn't be taken literally. It maybe allegorical but it does not negate the fact that incest is permitted by the Vedas after all many such verses are used by Hindus to prove their points. Was Ishwar short on words that he used such vulgar words in 'Holy' Vedas?

Why have a lengthy discussion on this incest issue? Hindus just have to provide a verse from Vedas wherein Ishwar (God) prohibits incest, That's it. No need to waste time and energy in lengthy discussions, If there is not a single verse in Vedas that prohibits incest then why defend it? on the other hand there are several Vedic verses that promotes incest.

My other question is that if incest was considered a serious offense then how could Ishwar inspire such incestuous verses so easily? Wasn't Ishwar aware of the fact that this could be used to justify incest? Inspiration of such incestuous verses only signifies that incest wasn't considered a taboo.

Hindus are requested to prove incest is prohibited in Vedas, Quote a single verse wherein Ishwar (Aum)

prohibits brother–sister, father–daughter, mother–son incest, if you can't then you shouldn't be defending it. And why does Ishwar have to inspire verses in such obscene language? Why can't he reveal in some nice poetry. The composer of these verses must be a pervert that's why there are these kind of obscene verses.

I'm sure no one can ever prove that. Now let's have a look at some unholy words used by Ishwar in the so called "Holy" Vedas.

उत्तर— यहाँ सुलेमान रजवी ने वेद व बृहदारण्यक उपनिषद् में पिता द्वारा अपनी पुत्री के साथ संगम करके सन्तान उत्पन्न करने का आरोप लगाया है। सर्वप्रथम हम उपर्युक्त तीन मन्त्रों पर विचार करते हैं—

निश्चित ही पं. राम गोविन्द त्रिवेदी का भाष्य नितान्त मिथ्या व अश्लील है। इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण भाष्य कैसे हो गये, इसको हमने प्रारम्भिक चरणों में ही स्पष्ट कर दिया है। भाष्यकारों की मूर्खता का लाभ सुलेमान रजवी जैसे लोग उठायेंगे ही। वस्तुतः इस घर को अपने ही चिरागों ने आग लगाई है।

यहाँ मैं दो आर्य विद्वानों के भाष्य ही उद्धृत कर रहा हूँ—

1. आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री भाष्य—

प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णादनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत्।
पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा॥

[ऋग्वेद 10.61.5]

पदार्थ— (यस्य) जिस रुद्र नामी प्रजापति अग्नि का (इष्णद्) ईक्षणयुक्त (वीरकर्मम्) उत्पादन कर्म (प्रथिष्ठ) प्रथित होता है उस (अनुस्थितम्) स्थापित एवम् स्थित हुए उत्पादन कर्म को (अनर्वा) दृढ़ (नर्यः) मनुष्य और देवों का हितकारक पार्थिव अग्नि (नु) निश्चय से (अप, औहत्) छिपा लेता है (तत्) वह (पुनः) फिर (आवृहति) चौतरफा फैलता है यह वही तत्त्व है (यत्) जो (कनायाः) चमकीले (दुहितुः) द्युलोक से (अनुभृतम्) ग्रहण किया गया (आः) होता है।

भावार्थ— प्रजापति रुद्र=अग्नि की उत्पादन शक्ति विस्तार को प्राप्त होती है। उसके द्वारा स्थापित उत्पादन शक्ति रूप तेज को दृढ़ और नर तथा देवों का हितकारी पार्थिव अग्नि अपने अन्दर ढककर रख लेता और वह तेज सर्वत्र फैलता है। वस्तुतः यह तेज है, जो द्युलोक से ग्रहण किया जाता है।

मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ॥

[ऋग्वेद 10.61.6]

पदार्थ— (कामम्) यथेच्छ रूप से (पितरि) सूर्य (युवत्याम्) द्युलोक वा उषा के (कृण्वाने) करने पर (यत्) जो (कर्त्वम्) कर्म (मध्या) अन्तरिक्ष में (अभीके) उनके समीप (अभवत्) हुआ वा होता है उसमें (मनानक्) स्वल्प (रेतः) अरुण किरण नामी तेज को (वियन्ता) परस्पर अभिगमन करने वाले दोनों ने (जहतुः) छोड़ा वा छोड़ते हैं। यह वही तेज है जिसे प्रजापति सूर्य द्वारा (सुकृतस्य) उत्तम कर्म के (सानौ) ऊँचे (योनौ) स्थान द्युलोक में (निषिक्तम्) निषिक्त रहता है।

भावार्थ— आदित्य और उषा वा द्युलोक के परस्पर अभिगमन से जो कर्म होता है, उसमें आदित्य अरुण किरण नामक तेज को उषा वा द्युलोक में छोड़ता है और दिन की उत्पत्ति होती है। सूर्य का यह तेज द्युलोक में भरा पड़ा है।

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः सञ्जग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥

[ऋग्वेद 10.61.7]

पदार्थ— (पिता) प्रजापति आदित्य (यत्) जब (स्वाम्) अपनी (दुहितरम्) उषा अथवा द्युलोक को (अधिष्कन्) प्राप्त करता है तब (क्ष्मया) पृथिवी के साथ संगत हुआ (रेतः) अपने अरुण किरण नामक तेज को (निसिञ्चत्) आकाश में सिक्त करता है तब (स्वाध्यः) अच्छी प्रकार प्रकट (देवाः) दिव्य शक्तियाँ— सूर्य किरणें (ब्रह्म) अग्नि को (अजनयन्) उत्पन्न करते हैं और उसे (व्रतपाम्) व्रतों के पालक (वास्तोः, पतिम्) वास्तोष्पति रुद्र नामक अग्नि को (निः, अतक्षन्) निर्मित करते हैं।

भावार्थ— आदित्य जब द्युलोक अथवा उषा को अभिव्याप्त करता है, तब पृथिवी के साथ संगत होकर आकाश में तेज को सिक्त करता है, उससे दिन का प्रकाश अग्नि आदि उत्पन्न होते हैं। इस अग्नि को वास्तोष्पति रुद्र=अग्नि कहा जाता है।

2. स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक भाष्य—

प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत्।
पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा॥

[ऋग्वेद 10.61.5]

संस्कृतान्वयार्थः — (यस्य वीरकर्मम्-प्रथिष्ट) यस्य गृहस्थस्य पुत्रकर्म पुत्रार्थकर्म वीर्यसेचनम् 'पुत्रो वै वीरः' [श.ब्रा.3.3.1.12] प्रथितं प्रथते वा (इष्णत्-अनुष्ठितम्) पुत्ररूपेण प्राप्तम् 'इष्णन् प्राप्नुवन्' [ऋ.4.17.3 दयानन्दः] सेवितं सेवायां सफलीभूतं युवानम् (पुनः-तत् आवृहति) पुनस्तं स समन्तादुद्यच्छति पुत्रोत्पादनेन (नु नर्यः-अपौहत्) नरेभ्यो हितो हितकरः सन् सर्वकार्यभारं त्यजेत् (यत्) यतः (कनायाः-दुहितुः-अनुभृतम्-आस्) कान्तायाः सन्तानदोहनयोग्यायाः पत्न्याः-आनुकूल्येन धारितमासीत् (अनर्वा) स्वस्मिन् समर्थाऽनन्याश्रमी जातः।

भाषान्वयार्थ— (यस्य वीरकर्मम्-प्रथिष्ट) जिस गृहस्थ का पुत्रकर्म-पुत्रोत्पादनार्थ कर्म वीर्यसेचन प्रथित-पुष्ट होता है (इष्णत्-अनुष्ठितम्) पुत्ररूप से प्राप्त सफलीभूत को (पुनः-तत् आवृहति) फिर उसको वह भलीभाँति उत्साहित करता है पुत्रोत्पादन द्वारा (नु नर्यः-अपौहत्) नरों का अवश्य हितकर होता हुआ सब कार्यभार को त्याग दे (यत्) जिससे कि (कनायाः दुहितुः-अनुभृतम्-आस्) सन्तान दोहन योग्य-उत्पादन योग्य कान्ता की अनुकूलता में धारण किया है (अनर्वा) अपने में समर्थ स्वाश्रय वाला हो जाता है।

भावार्थ— गृहस्थ का लक्ष्य सन्तान उत्पादन करना है, तदर्थ वीर्य सेचन करने पर कमनीय सन्तान को दोहने वाली पत्नी में वह पुष्ट होकर सन्तान के रूप में उत्पन्न हो जाता है और वह युवा बन जाता है। तब पिता उसे पुत्र परम्परा चलाने के लिए उत्साहित करता है। जब वह पुत्र पुत्रवान् बन जाता है, तो फिर उसका पिता गृहस्थ को त्याग दे, अन्य मनुष्यों के हित कार्य करने के लिए।

मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ॥

[ऋग्वेद 10.61.6]

संस्कृतान्वयार्थः — (यत् युवत्यां कर्त्वम्-अभवत्) यदा युवत्यां भार्यायां पुत्रोत्पादनकर्त्तव्यं पूर्णं भवति (पितरि कामं कृण्वाने-अभीके) जीवति पितरि तदाश्रमे पुत्रस्य पुत्रोत्पादनं कामं कुर्वति सति तत्सम्मुखे (वियन्तौ मनानक्-रेतः-जहतुः) विशिष्टतया प्राप्नुवन्तौ पतिपत्न्यौ-अल्पाः प्रजास्तु त्यजताम् 'रेतः प्रजाः' [ऐ.आ.2.1.3] (सुकृतस्य योनौ सानौ निषक्तम्) पुण्यकर्मणः पितृणस्य प्रतीकाराय गृहे गृहाश्रमे विभक्ते जगति निषक्तं निषेचनीयं कर्त्तव्यं भवति 'सानौ विभक्ते जगति' [ऋ.1.146.2 दयानन्दः]।

भाषान्वयार्थ— (यत् युवत्यां कर्त्वम्-अभवत्) जब कि युवती भार्या में पुत्रोत्पादन से कर्त्तव्य पूर्ण हो जाता है (पितरि कामं कृण्वाने-अभीके) जीवित पिता में-उसके आश्रय पुत्र का पुत्र उत्पादन की कामना हो जाने पर उसके सम्मुख (वियन्तौ मनानक्-रेतः-जहतुः) विशिष्टता से प्राप्त होते हुए पति पत्नी अल्प सन्तानों को तो त्याग दें-उत्पन्न करें (सुकृतस्य योनौ सानौ निषक्तम्) पुण्यकर्म के अर्थात् पितृ ऋण के प्रतीकार हो जाने पर गृहाश्रम में विशेष सेवन करने योग्य जगत् में निषेक करना कर्त्तव्य होता है।

भावार्थ— युवती भार्या में पुत्रोत्पादन के लिए वीर्य निषेक करना कर्त्तव्य होता है। जीवित पिता के होते हुए कम से कम प्रजा तो अवश्य उत्पन्न करे। इसके लिए गृहस्थ आश्रम पुण्य का स्थान है। विशेष सेवनीय जगत् में सन्तान परम्परा के लिए निषेक करना आवश्यक है। यह गृहस्थाश्रम की परम्परा है।

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः सञ्जग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥

[ऋग्वेद 10.61.7]

संस्कृतान्वयार्थः — (क्ष्मया सञ्जग्मानः) सन्तानस्य भूमिरूपया भार्यया सङ्गच्छमानः (रेतः-निषिञ्चन्) वीर्यं गर्भाधानरूपेण निषिञ्चन् सन् (पिता स्वां दुहितरम्-अधिष्कन्) पिता स्वां कन्यां प्राप्नोति-उत्पादयति 'स्कन् निस्सारयतु' [यजु.1.26 दयानन्दः] 'स्कन्दन्ति-प्राप्त होते हैं' [ऋ.5.51. 3 दयानन्दः] न तु पुत्रम् (स्वाध्यः-देवाः-ब्रह्म जनयन्) सु-आध्यातारः-दूरदर्शिनो विद्वांसो ज्ञानं प्रादुर्भावयन्ति मन्यन्ते घोषयन्ति (वास्तोष्पतिं व्रतपां निर्-अतक्षन्) यत् तां कन्यां गृहस्य पतिं स्वामिनीं कर्मपालिकां पितृकर्मरक्षिकां निर्धारयन्ति।

भाषान्वयार्थ— (क्ष्मया सञ्जग्मानः) सन्तान की भूमिरूप पत्नी से सङ्गत होता हुआ तथा (रेतः-निषिञ्चन्) गर्भाधान रीति से वीर्य का सिञ्चन करता हुआ (पिता स्वां दुहितरम्-अधिष्कन्) पिता अपनी कन्या को प्राप्त करता है-उत्पन्न करता है-पुत्र नहीं प्राप्त करता, तब (स्वाध्यः-देवाः-ब्रह्म जनयन्) दूरदर्शी विद्वान् ज्ञान को-गृहस्थ ज्ञान को नियम को प्रकट करते हैं, घोषित करते हैं (वास्तोष्पतिं व्रतपां निर्-अतक्षन्) उस कन्या को गृहपति-घर की स्वामी रूप में पितृकर्म की रक्षिका निर्धारित करते हैं।

भावार्थ— यदि पुरुष के पत्नी समागम अर्थात् वीर्यसिञ्चन करने पर पुत्र को न प्राप्त करके केवल कन्या को प्राप्त करता है, तब वह कन्या पितृकर्म की रक्षिका तथा पिता के घर की-सम्पत्ति की स्वामी होती है। ऐसी वेद की परम्परा एवं वैदिक विद्वानों की मान्यता है।

इन भाष्यों में आपको अश्लीलता की कहीं गन्ध भी नहीं मिलेगी। जैसा कि मैं पूर्व में भी लिख चुका हूँ कि वेद का स्वाभाविक भाष्य केवल आधिदैविक ही होता है, शेष दोनों प्रकार के भाष्य भाष्यकार की रुचि व योग्यता पर निर्भर करते हैं और उनसे समाज को कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं। इन दोनों ही विद्वानों ने आधिभौतिक व आधिदैविक भाष्य किए हैं। आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री का आधिदैविक भाष्य भी साधारण स्तर का है, पुनरपि आक्षेपकर्त्ता के आक्षेप को निर्मूल करने में तो सक्षम है। इन विद्वानों के भाष्यों को पढ़कर ही कोई सामान्य बुद्धि का मनुष्य भी इन मन्त्रों पर कोई आक्षेप नहीं लगा सकता। इन मन्त्रों के वास्तविक विज्ञान का बोध मेरे वेदभाष्य से ही हो सकेगा।

आप जो यह प्रश्न कर रहे हैं कि वेद में ऐसी भाषा में उपदेश क्यों दिया, जिससे नाना प्रकार के अवांछित यौन सम्बन्धों की प्रेरणा मिलती है अर्थात् कुछ मन्त्रों के ऐसे अर्थ भी हो सकते हैं, जो अश्लील हों? इसका उत्तर जानने के लिए आपको वेद तथा भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना होगा। वेद उस भाषा में है, जो वेद की उत्पत्ति अर्थात् सृष्टि के आदि में चार ऋषियों के द्वारा आकाश से वैदिक ऋचाओं की रश्मियों को ग्रहण करने से पूर्व इस संसार में विद्यमान नहीं थी।

वेद की तुलना संसार के किसी भी अन्य ग्रन्थ से नहीं की जा सकती। संसार के अन्य सभी ग्रन्थ उस भाषा में लिखे गये हैं, जो भाषा उन ग्रन्थों के लिखे जाने से पूर्व संसार में विद्यमान थी। उदाहरणतः कुरान लिखने से पूर्व अरबी भाषा अरब में प्रचलित थी। अरबी भाषा अरबों की बोलचाल की भाषा थी। इसी प्रकार अन्य सभी ग्रन्थों के विषय में यही समझें, केवल वेद ही इसका अपवाद है।

सार यह है कि अन्य ग्रन्थों की भाषाएँ संसार से उन ग्रन्थों में गयी हैं, परन्तु वेद से संसार में भाषा व ज्ञान दोनों का प्रादुर्भाव हुआ है। अन्य ग्रन्थों में जो जो शब्द विद्यमान हैं, वे उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, जिन अर्थों में उस क्षेत्र में बोले जा रहे होते हैं, जबकि वेद में ऐसा आवश्यक नहीं है। इस कारण संसार में प्रचलित अर्थों को देखकर वैदिक पदों के अर्थ करना अनाड़ीपन है, जो अधिकांश भाष्यकारों ने किया है। वैदिक शब्दों के अर्थों का बोध ब्राह्मण ग्रन्थों, निरुक्त व निघण्टु के आधार पर ही हो सकता है। इसमें भी यह ध्यान रखना होता है कि वेद के पद यौगिक ही होते हैं, रूढ़ नहीं।

हम यहाँ शब्दों के तीन प्रकारों को स्पष्ट करते हैं—

1. **रूढ़—** ऐसे शब्द, जो बिना किसी प्रकृति-प्रत्यय की निश्चितता के समाज में प्रचलित हो जाते हैं। उदाहरणतः **'खाट'** शब्द चारपाई के लिए लोक में प्रयुक्त है। इसका कोई निश्चित व्याकरण नहीं है।

2. **योगरूढ़—** ऐसे शब्द, जो निश्चित प्रकृति व प्रत्यय से तो व्युत्पन्न होते हैं, परन्तु वे किसी वस्तु विशेष के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणतः नीरज, वारिज आदि। इनका अर्थ है— जल में उत्पन्न वस्तु, परन्तु जल में उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ, वनस्पति वा प्राणी को नीरज अथवा वारिज नहीं कह सकते, केवल कमल के लिए ही ये शब्द प्रयुक्त होते हैं।

3. **यौगिक—** जो शब्द निश्चित प्रकृति व प्रत्यय से व्युत्पन्न होते हैं अथवा जिनके अर्थों के आधार पर उनका निर्वचन किया जा सकता है। ये शब्द किसी भी पदार्थ विशेष के लिए कभी प्रयुक्त नहीं होते, बल्कि प्रकरणानुसार अनेक पदार्थों के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। उदाहरणतः 'अग्नि' पद प्रकृति-प्रत्यय से भी व्युत्पन्न है। इसके अतिरिक्त महर्षि

यास्क ने निरुक्त में इसका विस्तृत निर्वचन किया है। प्रकरणानुसार इसके अनेक अर्थ सम्भव हैं, यथा— प्राण, ऊष्मा, विद्युत् व प्रकाश आदि से युक्त पदार्थ, राजा, सेनापति, विद्वान्, आत्मा व परमात्मा। वेद में सभी पद इसी प्रकार के हैं, इस कारण वैदिक पदों का केवल एक ही प्रकार से अर्थ करना अज्ञानता है। वेद में अग्नि पद देखकर लोक में मनुष्यों ने आग को अग्नि नाम दे दिया, क्योंकि आग में ऊष्मा व प्रकाश आदि गुण विद्यमान होते हैं।

इसी प्रकार वेद (ऋ.3.27.4) में 'शोचिष्केश' शब्द आता है। इसके विषय में शतपथ ब्राह्मण 1.4.3.9 में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं—

'शिश्नं वै शोचिष्केशं शिश्नं हीदं शिश्निनं भूयिष्ठं शोचयति।'

यहाँ 'केश' शब्द के विषय में भी जानना आवश्यक है। निरुक्त 12.36 में महर्षि यास्क लिखते हैं—

'केशा रश्मयः'

तैत्तिरीय संहिता (7.5.25.1) में भी कहा है—

'रश्मयः केशाः'

इस प्रकार शिश्न उस वस्तु को कहते हैं, जिसकी रश्मियाँ तेजस्विनी होती हैं। इस प्रकार कोई भी तारा, जिनमें हमारा सूर्य भी सम्मिलित है, शोचिष्केश कहलाता है। इसका कारण यह है कि इनकी किरणें तेजस्विनी होती हैं।

'शोचिष्केश' में 'शुच्' धातु शोक करने अर्थ में नहीं, बल्कि 'शोचति ज्वलतिकर्मा' (निघं.1.16) से जलाने व तेजस्वी होने अर्थ में प्रयुक्त है। इसी से 'शोचिष्केश' का अर्थ तारा सिद्ध होता है। इस प्रकार 'शिश्न' का

अर्थ भी तारा हुआ। यहाँ 'शोचिष्केशः' में बहुव्रीहि समास मानने पर यह अर्थ हुआ है। यदि यहाँ कर्मधारय समास मानें, तब तेजस्विनी किरण ही 'शोचिष्केश' एवं शिश्न कहलायेगी तथा तारे को शिश्निन वाला कहा जायेगा। 'शिश्न' का अन्य निर्वचन महर्षि याज्ञवल्क्य ने उपर्युक्त उद्धरण में किया है— जो शिश्न वाले को प्रभूत मात्रा में प्रकाशित करता है। इसका अर्थ है कि शिश्नी तारा कहलायेगा, क्योंकि तारों को उसकी शिश्नरूपी किरणें ही प्रकाशित करती अर्थात् दर्शाती हैं।

यहाँ शिश्न शब्द, जो वेद में सूर्य वा सूर्य की किरण अर्थ में प्रयुक्त है, को देखकर मानव समाज ने पुरुषेन्द्रिय का भी शिश्न नाम उस समय रखा, जब उसका कोई नाम नहीं था अर्थात् सृष्टि की प्रारम्भिक पीढ़ी में। पुरुष का उपस्थ भी मनुष्य को सन्तान उत्पन्न करने के विचार से युक्त करता है और कामी पुरुषों को यही इन्द्रिय अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा सर्वाधिक दुःखी व बेचैन करती है। यहाँ 'शुच्' धातु शोक करने अर्थ में भी प्रयुक्त है और जलाने अर्थ में ग्रहण करें, तो कामाग्नि की प्रचण्डता सर्वविदित है।

अब यहाँ सुलेमान रजवी जैसा वेदविरोधी कहेगा कि वेद में सूर्य किरण वा सूर्य के लिये शिश्न वा शिश्नी का प्रयोग क्यों हुआ? इस मूर्खतापूर्ण प्रश्न का उत्तर सम्भवतः रजवी महाशय को समझ में आ गया होगा। यहाँ शतपथ ब्राह्मण के उद्धरण का पूर्वभाग 'शिश्नं वै शोचिष्केशम्' लोकप्रचलित शिश्न के लिए न होकर केवल तारे के लिए प्रयुक्त है। इस बात से यह स्पष्ट होता है कि वेद के साथ-साथ शतपथ ब्राह्मण में 'शोचिष्केश' एवं 'शिश्न' पद पुरुष के उपस्थ के लिए नहीं, बल्कि तारे के लिए प्रयुक्त हैं। उद्धरण के कुछ भाग की साम्यता से लोक में पुरुषेन्द्रिय का नाम शिश्न रख लिया गया।

इसी प्रकार 'योनिः' शब्द वेद में अन्तरिक्ष के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका एक उदाहरण मन्त्र है—

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥

[ऋग्वेद 1.164.32]

इसकी व्याख्या में निरुक्तकार महर्षि यास्क का कथन है—

'योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुना।'

अर्थात् अन्तरिक्ष (आकाश) को योनि कहते हैं, जिसका बहुत बड़ा भाग वायुतत्त्व से आच्छादित होता है। यह पद 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह पद वेद में यौगिक शब्द है, जो अन्य भी कुछ पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहीं से लोक में स्त्री के जननांग के लिए भी यही शब्द प्रचलित होने लगा। उससे पूर्व इस अंग का कोई नाम ही नहीं था, क्योंकि संसार में भाषा की उत्पत्ति वेद से ही हुई है। यह अंग भी मांसपेशियों, रक्त वाहिनियों, स्नायु आदि से आच्छादित होने के कारण योनि कहलाया। मूलतः यह शब्द आकाश आदि के लिए है, विशेषकर वेद व ब्राह्मण ग्रन्थों में।

अब यदि कोई कामी व्यक्ति वेदादि शास्त्रों में शिश्न व योनि शब्द आते ही इनमें अश्लीलता का आरोप लगाए, तो वह अश्लीलता उसके मस्तिष्क में भरी है, शास्त्रों में नहीं। किन्हीं ग्रन्थों में शरीर क्रियाविज्ञान के सन्दर्भ में यदि लोकप्रचलित शिश्न व योनि वाचक शब्द भी आ जाएँ, तब भी वह विज्ञान का विषय होगा, अश्लील कथा का नहीं। बहुत कुछ अश्लीलता तो भाष्यकारों के मन में भरी थी और रही सही कमी सुलेमान रजवी जैसों के मन ने पूरी कर दी। यदि इनमें थोड़ी भी बुद्धि होगी, तो

इनकी अश्लीलता देखने की अश्लील वृत्ति इस समाधान से दूर हो जायेगी।

यह महाशय जो यह कह रहा है कि कोई भी वेद में अश्लीलता का निषेध सिद्ध नहीं कर सकता। इस पागलपन और कुतर्क का उत्तर मैं आक्षेप 18 के समाधान में दे चुका हूँ। अब हम वेद में ब्रह्मचर्य का विधान करने वाले कुछ मन्त्रों को यहाँ उद्धृत करते हैं—

1. अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः। [अथर्व.11.5.21]

पशु और पक्षी भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं अर्थात् वे ऋतुगामी होते हैं।

2. इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्। [अथर्व.11.5.19]

ऐश्वर्यवान् राजा ब्रह्मचर्य की साधना से ही सभी देवों को तेजस्वी बनाता है। इसका अर्थ यह है कि जिस राष्ट्र का राजा जितेन्द्रिय होता है, उस राष्ट्र में सभी विद्वान्-विदुषी, माता-पिता, कृषक, चिकित्सक, सैनिक, वैज्ञानिक, श्रमिक, वणिक् आदि सभी प्रजा ज्ञान और आनन्द से युक्त होती है।

3. तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्। [अथर्व.11.5.10]

केवल ब्रह्मचर्यपूर्वक ही ज्ञान-विज्ञान का स्वामी हुआ जा सकता है।

4. तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः। [अथर्व.11.5.24]

ब्रह्मचारी अर्थात् जितेन्द्रिय व्यक्ति में ही सभी दिव्य गुण निवास करते हैं।

5. ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी। [अथर्व.11.5.11]

ब्रह्मचर्यपूर्वक अनुसंधान करने वाला ही किरणों जैसे सूक्ष्म पदार्थों का गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

6. तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्। [अथर्व.11.5.22]

ब्रह्मचारी में प्रतिष्ठित हुआ विज्ञान ही सभी प्राणियों की रक्षा कर सकता है, जबकि विषयी लोगों का विज्ञान सबका विनाश करने वाला होता है।

7. ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी। [अथर्व.11.5.8]

ब्रह्मचारी विद्वान् ही अपने तप और साधना के द्वारा पृथिवी और सूर्य की रक्षा कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि ऐसा विद्वान् ब्रह्माण्ड में किसी भी प्रकार की अनिष्ट रश्मियों को उत्सर्जित न करके सदैव सात्त्विक रश्मियों के द्वारा पदार्थ मात्र को संतुलित करने में अपनी भूमिका निभाता है।

8. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। [अथर्व.11.5.18]

ब्रह्मचर्य का पालन करके ही कन्या युवा ब्रह्मचारी का पति के रूप में वरण करती है।

9. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। [अथर्व.11.5.19]

ब्रह्मचर्य के तप के द्वारा ही विद्वान् लोग मृत्यु अर्थात् दुःखों को जीत पाते हैं।

10. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। [अथर्व.11.5.17]

ब्रह्मचर्य के तप से ही कोई राजा अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकता है, अन्यथा राजा राष्ट्र का उसी प्रकार विनाश कर देता है, जैसे आज संसार

का विनाश हो रहा है।

11. ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति। [अथर्व.11.5.24]

ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्वान् वेदादि शास्त्रों के द्वारा आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक विद्याओं को ग्रहण कर पाते हैं।

वेद के इन्हीं आदेशों व उपदेशों को दृष्टिगत रखकर ही भगवान् मनु ने मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ (मनु.2.13)

अर्थात् अर्थ और काम में आसक्त व्यक्ति को कभी भी धर्म का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् वह व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त कर ही नहीं सकता, बल्कि वह पदार्थ विज्ञान को भी सूक्ष्म स्तर पर जाकर नहीं जान सकता। इन दोनों ही प्रकार की विद्याओं के लिए वेद ही परम प्रमाण है, जिसे ब्रह्मचर्यपूर्वक ही भली प्रकार समझा जा सकता है।

सुलेमान रजवी जैसे वेदविरोधी क्या अब भी हमसे पूछेंगे कि वेद में अश्लीलता का निषेध कहाँ है? अपनी कुरान में कोई एक प्रमाण बता दीजिए, जहाँ ब्रह्मचर्य का विधान किया गया हो।

* * * * *

आक्षेप—

Men only with Long Penis can impregnate women

Atharva Veda 20.126.17; Rig Veda 10.86.16–17 He whose organ [Penis] even in dream and even before cohabitation discharges genitive fluid may not be capable of having progeny. He whose long–shaped organ enters deep in the womb straight may be capable of having progeny. Almighty God is rarest of all and supreme over all.

—Tr. Vaidyanath Shastri (Arya Samaj)

Following is the Hindi translation of Rig Veda 10.86.16–17 by Pandit Ram Govind Trivedi (Puranik Hindu)

16. (इन्द्राणी की उक्ति)—इन्द्र! वह मनुष्य मैथुन करने में नहीं समर्थ हो सकता, जिसका पुरुषांग दोनों जघनों के बीच लम्बायमान है। वही समर्थ हो सकता है, जिसके बैठने पर लोमयुक्त पुरुषांग बल प्रकाश करता वा फैलता है। इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं।

17. (इन्द्र की उक्ति)— वह मनुष्य मैथुन करने में समर्थ नहीं हो सकता, जिसके बैठने पर लोमयुक्त पुरुषांग बल प्रकाश करता है। वही समर्थ हो सकता है, जिसका पुरुषांग दोनों जघनों के बीच लम्बायमान है।

उत्तर— निश्चित ही यह भाष्य मूर्खतापूर्ण एवं अश्लील है। इस पर हमारा भाष्य इस प्रकार है—

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३कपृत्।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥

[ऋ.10.86.16]

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥

[ऋ.10.86.17]

अब हम इन दोनों मन्त्रों पर अपना त्रिविध भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

अत्र प्रमाणानि (आधिदैविक पक्ष में)—

इन्द्रः = कालविभागकर्त्तासूर्यलोकः (म.द.ऋ.भा.1.15.1), महाबलवान् वायुः (म.द.ऋ.भा.1.7.1), विद्युदाख्यो भौतिकाऽग्निः (म.द.ऋ.भा.1. 16.3)। इन्द्राणी = इन्द्रस्य सूर्यस्य वायोर्वा शक्तिः (म.द.ऋ.भा.1.22. 12)। वृषा = वीर्यकारी (म.द.ऋ.भा.3.2.11), वेगवान् (म.द.ऋ.भा.2. 16.6), परशक्तिबन्धकः (म.द.ऋ.भा.2.16.4)। वृषाकपिः = वृषा चाऽसौ कपिः। कपिः = कम्पतेऽसौ (उ.को.4.145), आदित्यः (गो.उ. 6.12)। कपृत् = क + पृत्, 'पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्' (वा. अष्टा.6.1.63) से पृतना को पृत् आदेश। पृतना = सेना (आप्टेकोष), संग्रामनाम (निघं.2.17), कः = प्राणः = प्राणो वाव कः (जै.उ.4.11. 2.4)। सक्थि = सजतीति (उ.को.3.154), षञ्ज सङ्गे = आलिंगन करना, सटे रहना (सं.धा.को. पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक), सक्थिभ्यां क्रौञ्चौ-अजायेताम् (जै.ब्रा.2.267)। क्रौञ्चः = रज्जुः (तां.ब्रा.13.9.

17)। रज्जुः = रश्मिः। रश्मयः = रज्जवः किरणा वा (म.द.य.भा.29.43), रश्मेव = (रश्मा + इव) = किरणवद् रज्जुवद् वा (म.द.ऋ.भा.6.67.1), प्राणाः रश्मयः (तै.ब्रा.3.2.5.2)। रोमशः = लोमशः (रेफस्य लत्वम्), लोमाः = छन्दांसि वै लोमानि (श.ब्रा.6.4.1.6), पशवो वै लोम (तां.ब्रा.13.11.11), प्राणा = छन्दांसि (तु.मै.सं.3.1.9)। रम्बते = लम्बते (रेफस्य लत्वम्) क्वचित् रम्बते भी रहेगा। निषेदुः = निषण्णाः (निरु.13.10), नितरां दृढ़स्थित, विश्रान्त, नतमुख, खिन्न, कष्टग्रस्त। ऋषयः = ज्ञापकाः प्राणाः (म.द.य.भा.15.11), प्रापका वायवः (तु.म.द.य.भा.15.10), बलवन्तः प्राणाः (म.द.य.भा.15.13), प्राणा वा ऋषयः (ऐ.ब्रा.2.27; श.ब्रा.7.2.3.5), धनञ्जयादयः सूक्ष्मस्थूलावायवः प्राणाः (म.द.य.भा.15.14)।

अत्र प्रमाणानि (आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक पक्ष में)—
इन्द्रः = राजा (म.द.ऋ.भा.6.29.6), विद्वान्मनुष्यः (म.द.य.भा.26.4), जीवः (म.द.ऋ.भा.3.32.10)। कपृत् = कम् सुखनाम (निघं.3.6), अन्नम् (निरु.6.35), उदकनाम (निघं.1.12), सुखस्वरूपः परमेश्वरः (म.द.य.भा.5.18)। पृत् = पृत्सु संग्रामनाम (निघं.2.17)। सेना = सिन्वन्ति बध्नन्ति शत्रून् याभिस्सा (तु.म.द.य.भा.17.33)। बलम् (म.द.ऋ.भा.2.33.11), सेश्वरा समानगतिर्वा (निरु.2.11)। क्रौञ्चम् = वाग् वै क्रौञ्चम् (तां.ब्रा.11.10.19), रश्मिः = ज्योतिः (म.द.ऋ.भा.1.35.7), यमनात् (निरु.2.15), अन्नम् (श.ब्रा.8.5.3.3), एते वै विश्वेदेवाः रश्मयः (श.ब्रा.2.3.1.7)। देवः = धनं कामयमानः (म.द.ऋ.भा.7.1.25)। लोम = अनुकूलवचनम् (म.द.य.भा.23.36)। रोमा = रोमाणि औषध्यादीनि (म.द.ऋ.भा.1.65.4)।

आधिदैविक भाष्य—

मन्त्र 1. (यस्य) जब सूर्य के अन्दर (कपृत्) विभिन्न प्रकार के प्राणों की सेना अर्थात् धारा (स्ट्रीम) एवं उनका संघर्षण वा इंटरेक्शन उस (अन्तरा, सक्थ्या) सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग को जोड़ने वाले उत्तरी व दक्षिणी दृढ़ भागों, जिनसे विभिन्न प्रकार के विकिरणों व प्राणों (वाइब्रेशन्स) की धाराएँ (स्ट्रीम्स) उत्पन्न होती रहती हैं, के बीच (रम्बते=लम्बते) पिछड़ कर ठहर सी जाती है अथवा फैलकर मन्द पड़ जाती है। उस समय (न, सः, ईशे) वह इन्द्रतत्त्व अर्थात् सूर्य में स्थित बलवान् वैद्युत वायु समस्त सूर्य किंवा दोनों भागों के बीच की गति व संगति में तालमेल-सामंजस्य रखने में असमर्थ हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य के दोनों भागों अर्थात् नाभिकीय संलयन युक्त केन्द्रीय भाग, जिसमें सतत अपार ऊर्जा उत्पन्न होती रहती है, जिसे सूर्य की भट्टी कह सकते हैं एवं बहिर्भाग की जो पृथक्-2 घूर्णन गति होती है और दोनों के मध्य जो एक ऐसा सन्धि क्षेत्र होता है, जिसके सिरे उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव की ओर होते हैं, के बीच सन्तुलन खोने लगता है। इस कारण समस्त सूर्य पर संकट आ सकता है। अब इसी मन्त्र में आगे कहते हैं कि ऐसी अनिष्ट स्थिति कब नहीं बनती और कब यह सूर्य सन्तुलित व अनुकूलन की स्थिति में होता है?

(यस्य, निषेदुषः) जिस निरन्तर दृढ़ तेजस्वी उपर्युक्त इन्द्र के प्राणों की सेना अर्थात् वाइब्रेशन्स की स्ट्रीम्स (रोमशम्=लोमशम्) विभिन्न छन्द रूपी प्राणों तथा मरुत् अर्थात् सूक्ष्म पवनों से अच्छी प्रकार सम्पन्न होकर (विजृम्भते) विशेषरूपेण जागकर अर्थात् सक्रिय होकर अपने बल व तेज से सम्पन्न होती है, (सः, इत्, ईशे) तब यह इन्द्र अर्थात् विद्युदग्नि-युक्त वायु सूर्य के दोनों भागों की गति व स्थिति को नियन्त्रित रखने में

समर्थ होता है। यह प्राण सेना वा स्ट्रीम उपर्युक्त सक्थि अर्थात् सूर्य के दोनों भागों को मिलाने वाले उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों की ओर स्थित सन्धि भागस्थ दृढ़ भागों के बीच ही उत्पन्न व सक्रिय होती है। (विश्वस्मात्, इन्द्रः, उत्तरः) यह इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युदग्नियुक्त तेजस्वी बलवान् वायु अन्य तेजस्वी पदार्थों की अपेक्षा उत्कृष्ट व बलवत्तम है। यही बलपति है तथा सृष्टि यज्ञ को उत्कृष्टता से तारने वाला है। (ऋग्वेद 10.86.16)

भावार्थ— जब सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग को जोड़ने वाली दृढ़ स्तम्भ रूपी उत्तरी व दक्षिणी प्राण धाराएँ मन्द हो जाती हैं, तब सूर्य के दोनों भागों में सन्तुलन खोकर सूर्य का अस्तित्व संकटग्रस्त हो सकता है और जब वे दोनों धाराएँ विशेष रूप से सक्रिय व सशक्त होती हैं, तब सूर्य का सन्तुलन उचित प्रकार से बना रहता है।

मन्त्र 2. (यस्य) जब सूर्य के अन्दर (कपृत्) विद्युदग्नियुक्त वायु के विभिन्न प्राणों की सेना (स्ट्रीम) उस (अन्तरा, सक्थ्या) सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग के मध्य स्थित उनको जोड़ने वाले उत्तरी व दक्षिणी दृढ़ भागों, जिनमें विभिन्न प्रकार के प्राणों (वाइब्रेशन्स) की धाराएँ उत्पन्न होती रहती हैं, के बीच (रम्बते=लम्बते) चिपककर उनको अपने नियन्त्रण में लेकर ऊपरी भाग को ऊपर ही लटकाने व धारण करने में समर्थ होती है, तब (सः, इत्, ईशे) वैद्युत अग्नि युक्त वायु रूपी इन्द्र इन्हें अर्थात् सूर्य के दोनों भागों को संतुलित रखने में समर्थ होता है अर्थात् उस समय सूर्य का बहिर्भाग उसके केन्द्रीय भाग, जिसमें नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया सतत चलती है, (यस्य, निषेदुषः) के ऊपर सन्तुलन बनाये रखते हुए सतत फिसलता रहता है, परन्तु यदि (रोमशम् = लोमशम्) प्रशस्त बलयुक्त छन्द, प्राण व मरुत् अर्थात् सूक्ष्म पवन

(विजृम्भते) खुलकर फैल जाते हैं, तो उनका प्रभाव मन्द पड़ जाता है। जैसे किसी पानी की धारा को जब तीव्र दाब से फेंका जाता है, तो उसमें मारक क्षमता तेज होती है। वह पत्थर को भी छेद सकती है, किसी प्राणी को भी मार सकती है, परन्तु जब वही धारा बड़े छिद्र में से प्रवाहित कर दी जाये, तो वह खुलकर फैल जायेगी और उसका मारक वा छेदक प्रभाव मन्द वा बन्द पड़ जाता है। उसी मन्दता की यहाँ चर्चा है।

(न, सः, ईशे) उस समय वह इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युदग्नियुक्त वायु सूर्य के उन दोनों भागों पर सन्तुलन-सामंजस्य खो सकता है, जिससे सूर्य का अस्तित्व संकट में पड़ सकता है। (विश्वस्मात्, इन्द्र, उत्तरः) यह इन्द्र तत्त्व ही अखिल उत्पन्न पदार्थ समूह रूपी संसार में सबसे श्रेष्ठतम व बलवत्तम है तथा यह समस्त अन्न अर्थात् संयोज्य परमाणुओं को उत्कृष्टता से तारते हुए जगत् की रचना में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। (ऋग्वेद 10.86.17)

भावार्थ— जब सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग के बीच प्रवाहित उत्तरी व दक्षिणी प्राण धाराएँ तीव्र बलवती होती हैं, तब दोनों भागों के बीच की गति व अवकाश का सन्तुलन व सामंजस्य बना रहता है, परन्तु जब वे धाराएँ इधर-उधर बिखरकर दुर्बल हो जाती हैं, तब दोनों भागों के मध्य असंतुलन उत्पन्न होकर सूर्य के अस्तित्व पर संकट आ सकता है।

इन दोनों ऋचाओं का सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव—

आर्ष व दैवत प्रभाव— इसका ऋषि वृषाकपि इन्द्र तथा इन्द्राणी है। इसका तात्पर्य है कि विद्युद्वायुयुक्त तीव्र बलवान् सूर्यलोक के भीतरी भाग में स्थित प्राथमिक प्राण रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है।

इस समय प्राथमिक प्राण रश्मियाँ प्रबल रूप में विद्यमान होने से ये छन्द रश्मियाँ विशेष बलवती होती हैं, इस कारण इनके प्रभाव से भी विशेष बल उत्पन्न होता है। इनका देवता इन्द्र होने से इन छन्द रश्मियों के द्वारा सूर्यादि तारों के मध्य विभिन्न विद्युत् बलों की समृद्धि होती है अर्थात् विद्युदावेशित कणों की ऊर्जा में भारी वृद्धि होती है।

छान्दस प्रभाव— इनका छन्द निचृत् पंक्ति होने से तारों के बहिर्भाग से विभिन्न कणों को तारों के केन्द्रीय भाग में ले जाया जाता है और ऐसा करते हुए बाहरी व आन्तरिक भाग में भारी क्षोभ उत्पन्न होता है, पुनरपि उन कणों की पारस्परिक संयोज्यता में वृद्धि होती है। इनका पंचम स्वर सभी क्रियाओं को सतत विस्तृत करने में सहायक होता है।

ऋचाओं का प्रभाव— इन दोनों छन्द रश्मियों का प्रभाव तारों के केन्द्रीय भाग (जिसमें नाभिकीय संलयन की क्रिया होती है) तथा उसके ऊपर विद्यमान शेष सम्पूर्ण विशाल भाग के मध्य सन्धि क्षेत्र में होता है। ये दोनों भाग परस्पर कुछ असमान गति से एक-दूसरे पर फिसलते रहते हैं। सन्धि भाग के उत्तरी व दक्षिणी भागों में विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों की सुदृढ़ धाराएँ विद्यमान रहती हैं, जो दोनों भागों को परस्पर एक मर्यादित दूरी पर बनाये रखने के साथ-2 विशाल भाग को दृढ़ता से थामे रखती हैं। उन धाराओं में इन छन्द रश्मियों की भी विशेष भूमिका होती है। इनके प्रभाव से वे सुदृढ़ धाराएँ क्रमशः दुर्बल एवं सबल रूप प्राप्त करती रहती हैं। इस कारण तारे का विशाल भाग सन्धि भाग के ऊपर कभी कुछ निकट, तो कभी कुछ दूर होता रहता है अर्थात् दोलन करता रहता है। इसका तात्पर्य है कि केन्द्रीय भाग एवं शेष विशाल भाग के मध्य विद्यमान सन्धि भाग स्प्रिंग की भाँति सूक्ष्म मात्रा में कभी फैलता, तो कभी सिकुड़ता रहता है। इस क्षेत्र में विद्युत् चुम्बकीय बलों की विशेष

प्रधानता व सक्रियता होती है।

आधिभौतिक भाष्य—

मन्त्र 1. (यस्य) जिस राजा का (कपृत्) सेनाबल अथवा उसका अन्न-धन का भण्डार (सक्थ्या, अन्तरा) सभी विद्वानों वा धन की कामना करने वाले प्रजाजनों के मध्य उभरते राग-द्वेष रूप संघर्ष के मध्य (रम्बते) पिछड़ जाता है अथवा उनकी विशेष आसक्ति का कारण बन जाता है। (सः, न, ईशे) वह ऐश्वर्यहीन राजा अपने देशवासियों पर शासन नहीं कर सकता है अर्थात् उसके राष्ट्र में अराजकता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु (यस्य, निषेदुषः) निरन्तर स्थिरता में आश्रित जिस राजा का सेनाबल अथवा अन्न-धन संसाधन (रोमशम्) जब प्रशस्तरूपेण सब प्रजाजनों के लिए अनुकूल वचनयुक्त एवं प्रचुर औषधि, पशु आदि से सम्पन्न होता है तथा (विजृम्भते) सब प्रजाजनों के लिये यथायोग्य रीति से वितरित किया जाता है तथा यह वितरण व्यवस्था सदा सुचारुरूपेण चलती रहती है, (सः, इत्, ईशे) वही राजा अपने राष्ट्र पर सब ऐश्वर्यों से युक्त होकर शासन कर सकता है। (विश्वस्मात्, इन्द्र, उत्तरः) ऐसे समग्र ऐश्वर्यसम्पन्न राजा का शासन अन्य सभी व्यवस्थाओं से श्रेष्ठ होता है। (ऋग्वेद 10.86.16)

भावार्थ— राजा को चाहिए कि वह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये अनुकूल वचनों से युक्त होकर अपनी प्रजा के मध्य पनप रहे राग-द्वेषजन्य असन्तोष एवं संघर्ष को दूर करने का सतत प्रयत्न करे। साथ ही अपने बल व धन का सम्पूर्ण प्रजा के हित में यथायोग्य नियोजन करे।

मन्त्र 2. (यस्य, निषेदुषः) जिस विश्रान्त एवं कष्टग्रस्त राजा का (रोमशम्) प्रशस्त अन्न, औषधि व पश्वादि संसाधन (विजृम्भते)

अव्यवस्थितरूपेण खुला रहता है अर्थात् जिसके राज्य में अपव्ययता व वितरण की अव्यवस्था होती है। (न, सः, ईशे) वह ऐश्वर्यहीन राजा अपने राष्ट्र पर शासन करने में समर्थ नहीं होता है।

(सः, इत्, ईशे) वही राजा ऐश्वर्यवान् होकर अपने राष्ट्र पर समुचित रीति से शासन कर सकता है, (यस्य, कपृत्) जिसका सेनाबल तथा अन्न-धन भण्डार (सक्थ्या, अन्तरा) सभी विद्वानों व प्रजाजनों के मध्य उत्पन्न राग-द्वेषजन्य संघर्ष के मध्य (रम्बते) उस राग-द्वेष की भावना को हराकर अर्थात् दूर करके प्रजाजनों को उससे ऊपर उठाता है। फिर वह राजा सभी प्रजाजनों में उस बल व धनादि पालन सामग्री का दृढ़ता से यथायोग्य वितरण करता हुआ अपने पालन कर्म से सभी प्रजाजनों के हृदय में बस जाता है। (विश्वस्मात्, इन्द्र, उत्तरः) ऐसा ऐश्वर्यवान् राजा अपने प्रजाजनों को अपने अन्नादि पदार्थों के द्वारा सर्वविध दुःखों से तारने वाला होता है। (ऋग्वेद 10.86.17)

भावार्थ— ऐश्वर्य के इच्छुक राजा को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र को बाहरी आक्रमणादि कष्टों से सुरक्षित रखते हुए पूर्ण पुरुषार्थ के साथ अपने अन्न-धन आदि पालन सामग्री का अपव्यय वा अव्यवस्थित वितरण कदापि न होने दे, बल्कि अपने प्रजाजनों के अन्दर पनप रहे राग-द्वेषजन्य असन्तोष एवं संघर्ष को उचित पालनादि क्रियाओं व आवश्यक होने पर उचित दण्ड का आश्रय लेकर दूर करके सबका हित करने की सदैव चेष्टा करता रहे, जिससे वह सबका पितृवत् प्रिय बना रहे।

आध्यात्मिक भाष्य—

मन्त्र 1. (यस्य) जिस विद्वान् पुरुष का (कपृत्) मन एवं सुखकारी प्राणों

का समूह (सक्थ्या, अन्तरा) राग-द्वेषादि द्वन्द्वों में आसक्ति एवं कोलाहल के मध्य (रम्बते) चिपका रहता है अर्थात् उन्हीं में रत रहता है, (न, सः, ईशे) वह अपनी इन्द्रियों पर शासन नहीं कर सकता, बल्कि (यस्य, निषेदुषः, रोमशम्) दृढ़ व ब्रह्मवर्चस् से तेजस्वी होकर अपने अन्तःकरण को प्रणव तथा गायत्र्यादि छन्दरूप वेद की पवित्र ऋचाओं में प्रशस्त रूप से रमण करते हुए (विजृम्भते) स्वयं को सुखस्वरूप परमपिता परमेश्वर के आनन्द में विस्तृत कर देता है, (सः, इत्, ईशे) वही योगी पुरुष अपनी इन्द्रियों पर शासन कर पाता है। (विश्वस्मात्, इन्द्र, उत्तरः) ऐसा जितेन्द्रिय विद्वान् अन्य प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ होता है। (ऋग्वेद 10.86.16)

भावार्थ— विद्वान् पुरुष को चाहिए कि अपने को योगयुक्त करके परमपिता परमात्मा में रमण करने के लिए अपने अन्तःकरण को राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से दूर हटाकर प्रणव तथा गायत्र्यादि ऋचाओं के विधिपूर्वक जप द्वारा परमेश्वर की उपासना करने हेतु अपनी इन्द्रियों पर जय प्राप्त करे।

मन्त्र 2. (यस्य, निषेदुषः, रोमशम्) जिस निरन्तर विश्रान्त व खिन्न रहते हुए विद्वान् पुरुष का अन्तःकरण विभिन्न गायत्र्यादि ऋचाओं का जप करते समय अर्थात् उपासना का अभ्यास करते समय (विजृम्भते) इधर-उधर फैलने लगता है अर्थात् अस्थिर होकर इधर-उधर भागता है, (न, सः, ईशे) वह विद्वान् अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है, बल्कि (यस्य, कपृत्) जिसका मन तथा सुखकारी प्राण समूह (सक्थ्या, अन्तरा) विभिन्न द्वन्द्वों तथा सांसारिक व्यवहार के बीच (रम्बते) स्थिर होकर तपता हुआ एक स्थान पर दृढ़ रहता हुआ निरन्तर

परमेश्वर के जप में संलग्न रहता है, (सः, इत्, ईशे) वही विद्वान् योगी बनकर अपनी इन्द्रियों पर शासन करके समग्र ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। (विश्वस्मात्, इन्द्र, उत्तरः) ऐसा योगी स्वयं को सब दुःखों से तारकर अन्य प्राणियों को भी दुःखों से तारने वाला होता है। (ऋग्वेद 10.86.17)

भावार्थ— मुमुक्षु विद्वान् पुरुष को चाहिए कि ईश्वरोपासना वा जप करते समय मन को एकाग्र करके निरन्तर परमेश्वर में मग्न रहे तथा ऐसा करते हुए अपने सम्पूर्ण द्वन्द्वों को जीतकर स्वयं मोक्ष को प्राप्त करके दूसरे प्राणियों को भी दुःखों से दूर करने का प्रयत्न करता रहे।

हमारे इन भाष्यों को पढ़कर आपके मन-मस्तिष्क में भरी हुई अश्लीलता निकल जाएगी, ऐसा मुझे विश्वास है। इस कारण मैं वेदों में अश्लीलता के शेष आक्षेपों का उत्तर नहीं दे रहा हूँ, क्योंकि इतने उत्तरों से विज्ञ पाठक आक्षेपकर्त्ता के बौद्धिक स्तर एवं सत्यासत्य के विवेक की भावना को जान सकते हैं।

* * * * *

आक्षेप—

Niyog Pratha is the ugly practice where the wife copulates with other men to beget children, it is also a license for Brahmins to enjoy numerous women as Vedic law permits them to copulate with any women they desire if they are unable to control their passion. Following verse is taken as a proof for Niyoga from the Vedas,

Rig Veda 10.40.2

Where are ye, Aśvins, in the evening, where at morn? Where is your halting–place, where rest ye for the night? Who brings you home ward, as the widow bedward draws her husband's brother, as the bride attracts the groom?

Yaska explains this verse as, Nirukta 3.15

"Where do you remain at night, and where during the day? Where do you obtain the necessities of life, and where do you dwell? Who puts you to bed as a widow her husband's brother? From what (root) is Devara derived ? (He is) so called (because) he is the second husband..."

—Tr. Lakshman Swarup

The one who is to contract Niyoga with the widow is known as Appointed Husband or Devar. The brother of the deceased is most preferred in the case of Niyoga, after that Sapinda (Close relatives) and Niyoga with high caste Brahmins is also preferable as a widow can't contract Niyoga with lower caste. It is recommended to contract Niyoga with higher caste men only as they are said to be so called 'Intellectuals'. Above verse from Vedas as well as Nirukta talks about Niyoga. Arya Samaji scholar named Chiranjiva Bhardvaja explains the word Devar (in Niyoga sense) in the amendment of his translation in the 4th chapter of Satyarth Prakash,

Q. Supposing the deceased husband of a widow had no younger brother, with whom should she contract Niyoga?

A. With her devar, but the word devar does not mean what you think. For the Nirukta says "The second husband by Niyoga of a widow, be he the younger brother of her deceased husband or his elder brother, or of a man of her won Class or of a higher Class, is called Devar."

Explanation by Dr. Chiranjiva Bhardwaja,
page 134, Ch 4, Satyarth Prakash.

Some Hindus especially Aryas are shying away from this topic and even defying their guru Swami Dayanand Saraswati (Mulshankar) who immensely supported Niyoga.

Stalwarts of Arya Samaj viewed Niyoga as legit and that it is sanctioned by the Vedas. Rig Veda hymn 10 of chapter 10 endorses Niyoga (as per Arya Samaj translation), Following is the snapshot of the header from their website.

It states,

"This hymn is a dialogue between Yama and Yami i.e. between husband and wife. The husband on being impotent allows his wife to contract Niyoga…"

[Source: aryasamajjamnagar.org/rugveda_v5/pages/p464.gif]

It is mentioned in Rigved, Rig Veda 10.40.2

"O man and woman (connected by Niyoga), just as a widow, cohabits with her husband by Niyoga and produces children for him, and a wife cohabits with her husband by marriage and produces children for him, likewise (it may be asked) where both of you were during the day and during the night, and where you slept, who you are, and what your native place is." taken from the book Satyarth Prakash, Ch 4, P.134, Tr. Chiranjiva Bhardwaj (Arya Samaj)

Atharva Veda 14.2.18

"Do thou O woman that givest no pain to thy husband or Devar (husband by Niyoga), art kind to animals in this Order of householders, walk assiduously in the path of righteousness and justice, art well–versed in all the Shastras, hast children and

grandchildren, givest birth to valiant the brave boys, desirest a second husband (by Niyoga), and bestoweth happiness on all, accept a man of they choice as thy husband or Devar, and always perform the Homa which is the duty of every householder." taken from the book Satyarth Prakash, Ch 4, P.135, Tr. Chiranjiva Bhardwaja (Arya Samaj),

What's more uglier is that Rishis created this practice to legitimize their desire. It enables a Brahmin to have sex with numerous women. Mulshankar (Dayanand) writes in his book,

"Those, however, who cannot control their passions may beget children by having recourse to Niyoga"

—Satyarth Prakash by Swami Dayanand Saraswati,
Ch 4, page 130, Tr. Chiranjiva Bhardwaja

उत्तर— अब इस प्रकरण में से केवल नियोग प्रथा पर किए गए आक्षेप का उत्तर हम अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश-उभरते प्रश्न एवं गरजते उत्तर' से कुछ टिप्पणी के साथ यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

नियोग विषय— इस विषय पर विचार करने से पूर्व हमें ऋषि के उन-उन मन्तव्यों पर विशेष ध्यान देना चाहिए, जो जितेन्द्रियता को अति आवश्यक मानते हैं। सर्वप्रथम तो महर्षि दयानन्द जी की मान्यता यह है कि जो युवक वा युवती जितेन्द्रिय रह सकें तथा राष्ट्र व समाज का विशेष हित करना चाहें, वे विवाह ही न करें, परन्तु ऐसा संकल्प करने वालों

को सचेत भी करते हैं कि यह काम पूर्ण विद्या वाले जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थामकर इन्द्रियों को अपने वश में रखना, परन्तु उनकी भावना अवश्य यह है कि जो ऐसा कर सकते हैं, वे अवश्य करें। (देखें— सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास एवं संस्कृत वाक्य प्रबोध)

इस प्रकार की तैयारी के लिए अथवा वैदिक विचारानुकूल गृहस्थ बनने के लिए वे उनके माता-पिता द्वारा गर्भाधान से ही तैयारी करना आवश्यक मानते हैं। वे शिक्षा विषय को प्रारम्भ करते हुए द्वितीय समुल्लास में एक आर्ष वचन को उद्धृत करते हैं— 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् माता-पिता व आचार्य को अच्छा शिक्षक होना चाहिए, तभी सन्तान उत्तम होगी। उस समुल्लास के पूर्व उत्तम शिक्षा का प्रारम्भ करते हुए प्रथम समुल्लास में सर्वोत्तम ज्ञान परमेश्वर के ज्ञान की विशद चर्चा करते हैं। एक सौ नामों की व्याख्या से ईश्वर के स्वरूप का वह गागर में सागर भरा है, जो अन्यत्र कहीं भी एक साथ मिलना शायद सम्भव नहीं हो सके। इतने ज्ञानी पुरुष के लिए भी प्रथम विवाह की योग्यता निर्धारित करते हुए चतुर्थ समुल्लास में भगवान् मनु महाराज को उद्धृत किया है—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविलुप्त ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविषेत्॥

अर्थात् जो पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अर्थात् स्वप्न में भी जिसका वीर्य स्खलन न हुआ हो, ऐसे पूर्ण जितेन्द्रियता युक्त जिस पुरुष वा स्त्री ने चारों वेद, तीन, दो वा कम से कम एक वेद का सांगोपांग अध्ययन नहीं किया हो, उसे गृहस्थ बनने का ही अधिकार नहीं अर्थात्

प्रथम तो पूर्ण जितेन्द्रिय व परोपकारी विवाह ही न करें और यदि करें भी, तो उपर्युक्त योग्यता अनिवार्य है। इस प्रकार के माता-पिता गर्भाधान से पूर्व, मध्य और पश्चात् शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, जिससे रजवीर्य भी दोषों से रहित होकर गुणयुक्त हो। इसके पूर्व पठन काल में अष्ट मैथुनों से पूर्ण पृथक् रहें। तदुपरान्त बलादि से युक्त स्त्री-पुरुष विधिपूर्वक गर्भाधान करें तथा गर्भ ठहरने से एक वर्ष पर्यन्त परस्पर कभी शारीरिक सम्पर्क नहीं करें। ऋषि का कथन यह है कि मनुष्य पूर्ण ऋतुगामी हो। इस विषय में पशु भी हमारे आदर्श हो सकते हैं, जो बिना ऋतुकाल के मादा के पास जाते तक नहीं हैं।

ऋषि का मन्तव्य यह है कि सन्तानोत्पादन हेतु ही शारीरिक सम्बन्ध होवे। जब सन्तान की इच्छा नहीं हो, तो कभी शारीरिक सम्बन्ध करे ही नहीं। जिन मनु के इस वाक्य पर लोग उपहास कर सकते हैं कि अधिकतम 10 सन्तान तक उत्पन्न करें, वे यह भूल जाते हैं कि जिन्होंने घृणित सन्तति निरोधकों द्वारा सारे जीवन स्वेच्छाचारिता में सारे रिकॉर्ड तोड़ रखे हैं और 'हम दो हमारे दो' को आदर्श मान दिखावे में संयमी बनते हैं। क्या किसी पशु को ऐसा करते किसी ने देखा है? वे भला उन मनु (जो कहते हैं कि जीवन में अधिकतम 10 बार ही शारीरिक सम्बन्ध रखो।) पर क्या व्यंग्य कर सकते हैं? है कोई मनु विरोधी, जो ऐसी अधिकतम व्यवस्था में भी रह सकता है? अर्थात् अपने जीवन काल में मात्र दस बार ही शारीरिक सम्बन्ध रखने का संयम दिखा सकता है।

अब हम नियोग व्यवस्था पर आते हैं। यहाँ तक लिखने का भाव यह है कि ऋषि का स्तर अत्युच्च कोटि का था। उनके स्तर तक सोचने

का मस्तिष्क व चित्त ही आज के श्रेष्ठतम कहाने वाले मनुष्यों में भी नहीं है। जो उद्देश्य विवाहित स्त्री-पुरुषों के शारीरिक संयोग का होता है, वही उद्देश्य नियोग का भी होता है। केवल अन्तर यह है कि नियोग अस्थायी व आपात्-काल की व्यवस्था है, जबकि विवाह का उद्देश्य न केवल सन्तानोत्पत्ति है, अपितु समाज को एक व्यवस्थित व श्रेष्ठ रूप देना भी है और यह आजीवन स्थायी व्यवस्था है।

इन दोनों ही व्यवस्थाओं पर सामाजिक अनुमति की मुहर लगाना अनिवार्य है। इसके बिना दोनों ही व्यवस्थाएँ व्यभिचार की श्रेणी में आ जाती हैं। यहाँ मैं इसकी पुष्टि में वेदादि शास्त्रों के प्रमाण नहीं दूँगा, क्योंकि अवैदिकों को उससे क्या मिलेगा? और कुछ वैदिक उसके अर्थों को बदलने का दुस्साहस भी कर सकते हैं। मैं यहाँ कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी नहीं दूँगा, क्योंकि आज पाश्चात्य शिक्षा के दास व्यास, वायुदेव, इन्द्र, धर्मदेव आदि को व्यभिचारी कहने में क्यों संकोच करेंगे? इस कारण मैं केवल साधारण तर्कों का ही प्रयोग कर रहा हूँ।

पुनर्विवाह किसका हो व किसका नहीं, यह विषय भली प्रकार पहले सत्यार्थ प्रकाश में पढ़ लिया जाये। फिर नियोग कब व क्यों किया जाये, उसे वैचारिक परिपक्वता व उच्चत्व के स्तर तक पहुँचकर पढ़ा जाये, तब अनेक प्रश्नों का समाधान वहीं हो जायेगा। मैं सत्यार्थ प्रकाश के सभी तर्कों को यहाँ उद्धृत कर पिष्टपेषण करके लेख को व्यर्थ बढ़ाना नहीं चाहता। ऋषि तो व्यभिचार वा कुकर्म रोकने का उपाय लिखते हैं—

''इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें, विवाह वा नियोग भी न करें तो ठीक है, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह और आपातकाल में नियोग अवश्य

होना चाहिए।''

वे विधवा वा विधुर को उसी आपातकाल में नियोग की प्रेरणा करते हैं, जब उनको सन्तान की इच्छा हो अथवा जिस विधुर वा विधवा से ब्रह्मचारी न रहा जा सके। इससे उनके काम का फल यह होगा कि सन्तान भी प्राप्त हो जायेगी, क्योंकि ऋषि बिना सन्तान की इच्छा के बीज व्यर्थ फेंकना व्यभिचार व पाप मानते हैं। उनका मानना उसी प्रकार यथार्थ है, जिस प्रकार कोई किसान सुन्दर बीज को यूँ ही ऊसर में बिखेरने को ही किसान का धर्म मान ले और फल एक भी प्राप्त न हो सके और न फल पाने की इच्छा ही करता हो। ऐसे किसान को महामूर्ख ही माना जायेगा।

परन्तु जो बीज फेंकने में ही आनन्द मान रहे हों, उनको क्या समझा जाये? वही दशा उनकी है, जो सारे जीवन भोग तो करना चाहते हैं, परन्तु सन्तान होने से ऐसा डरते हैं, जैसे भयंकर नाग को छूने से लोग डरते हैं। वे घोर अप्राकृतिक होते हुए भी सर्वथा प्राकृतिक ईश्वरीय व्यवस्था के पालन को पाप मानते हैं और स्वयं सारे जीवन जो पति वा पत्नी व्यभिचार में रत हैं, वे स्वयं को संस्कारवान् गृहस्थ मानते हैं और ऋषियों को पापी ठहराते हैं।

यदि कोई कहे कि क्या आज कोई ऋषिभक्त कहाने वाला अपनी पत्नी, पुत्री या भगिनी का किसी से आपत्तिकाल में भी नियोग कराना चाहेगा अथवा क्या कोई माई का लाल अपनी बड़ी भाभी वा छोटी भाभी से आपत्तिकाल में नियोग करेगा? यदि ऐसा करेगा, तो निश्चित ही महापापी व दुष्ट कहलायेगा और मैं भी इसे स्वीकार करता हूँ कि वर्तमान देश-काल-परिस्थिति में ऐसा ही कहना उपयुक्त होगा। तब कोई कहेगा

कि फिर मैं ऋषि प्रोक्त वा वेदोक्त नियोग व्यवस्था की वकालत क्यों कर रहा हूँ? मैं भी कुछ आर्यों की भाँति दबी जुबान से इसे सत्यार्थ प्रकाश, वेद वा भारतीय इतिहास का एक कलंक क्यों नहीं मान लूँ? नहीं, मैं ऐसा कदापि नहीं कर सकता, परन्तु मैं वर्तमान में इस परम्परा को उचित भी कदापि नहीं मान सकता। हाँ, सिद्धान्ततः नियोग श्रेष्ठ आपद् धर्म है।

कोई पूछे कि आज आप इस धर्म को अधर्म बताते हुए वर्तमान में ऐसा करने को पाप क्यों बतला रहे हैं? इसका कारण मैं बतलाना चाहूँगा। सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि कुछ व्यवस्थाएँ देश, काल व परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी हो जाया करती हैं, भले ही वे कितनी भी श्रेष्ठ व हितकारिणी क्यों न हों? जो कार्य हेमन्त ऋतु में करणीय हो सकता है, वही कार्य ग्रीष्म ऋतु में अकरणीय होगा। कोई कार्य ध्रुव प्रदेश में करणीय, वही कार्य भूमध्यरेखीय उष्ण प्रदेशों में हानिकर हो सकता है। कोई कार्य बच्चे के लिए करणीय, वही युवकों व वृद्धों के लिए अकरणीय हो सकता है। इसके उदाहरण देना मैं आवश्यक नहीं मानता, क्योंकि यह प्रायः सभी प्रबुद्ध पाठक जान सकते हैं।

प्राचीन काल में नदी के तीर पर, वन में या पर्वत पर संध्या करने, वनभ्रमण व निवास को वानप्रस्थी व संन्यासी का धर्म बताया है, परन्तु आज वन हैं ही नहीं और यदि कहीं हैं, तो उन अधिसंख्य वनों में कंटीली झाड़ियाँ, जलविहीनता वा दूषित जल की ही विद्यमानता, मच्छर आदि का घोर प्रकोप और कन्दमूल फलों का प्रायः अभाव है। यदि कहीं भाव है, तो वन वहाँ विभाग का पहरा है। ऐसे में 'गंगातीरे हिमगिरिशिला...' को व्यवहार में लाना कोई सहज कार्य नहीं है और न यह आवश्यक ही है, तब हमें इसके ऐसे विकल्प खोजने पड़ेंगे, जहाँ साधना में विघ्न भी

न हो और वन जैसी शान्ति, सरलता और प्राकृतिक जीवन घरों वा आश्रमों में ही उपलब्ध हो जाए।

जिस काल में यह सब लिखा गया, उस काल में प्राकृतिक वातावरण, सामाजिक व्यवस्था और राजधर्म भी तदनुकूल ही था। राम राज्य में मच्छर, सर्प आदि का भी भय नहीं था। तब कहीं भी बैठकर निर्विघ्न साधना की जा सकती थी। आज तो बन्द घर में भी बैठकर मच्छरदानी व पंखा चाहिए, तब घोर जंगल में साधना कैसे होगी? इसलिए हमें पुराकाल की कुछ उत्तमोत्तम व्यवस्थाओं को तत्काल में पूर्ण हितकारिणी मानते हुए भी वर्तमान प्रतिकूल काल में उसे उचित नहीं मानना चाहिए।

जब भारत में नियोग प्रथा प्रचलित थी, उस समय के लोग उपरि-वर्णित संयमित सुव्यवस्थाओं में रहते थे। वे कामशक्ति सम्पन्न होते हुए भी कामुक नहीं होते थे। स्त्री-पुरुष परस्पर संयोग मात्र सन्तानोत्पत्ति के हेतु से ही करते थे, चाहे वह नियोग हो वा विवाह। जब प्रयोजन सिद्ध हो जाता था, तो कोई शारीरिक सम्बन्ध की अभिलाषा भी उनमें नहीं होती थी। तब वे निश्चित ही नियोग करने वा कराने के अधिकारी थे, परन्तु आज मानव ने कामुकता में संसार के सभी गिरे से गिरे प्राणियों को भी पीछे छोड़ दिया है, जो व्यर्थ वीर्यादि बहाने में ही आनन्द मानते हैं और जिस प्रयोजन के लिए बीज का प्रयोग होना चाहिए, उससे भय खाते हैं। जहाँ स्वयं माता सर्पिणी बनकर वा भूखी कुतिया बनकर अपने ही भ्रूण को खा जाती है अर्थात् गर्भपात कर पापिनी बन जाती है, तो कोई परिवार नियोजन के नाम पर स्वेच्छाचारी होकर भोग लिप्सा में प्रतिदिन निरत रहते हैं, वे भला नियोग पर अंगुली उठाने के कहाँ अधिकारी रहे और न वे नियोग करने-कराने के अधिकारी ही हैं।

आश्चर्य यह है कि जो लोग सत्यार्थ प्रकाश को भूमिका से लेकर तीसरे समुल्लास तथा आधे चौथे समुल्लास की महर्षि की प्रोज्ज्वल मान्यताओं को शतांश में भी जीवन में उतारने की योग्यता नहीं रखते, वे सीधे नियोग प्रथा को लेकर शोर मचाते हैं। अरे! पहले यह तो पढ़ लो कि ऋषि जितेन्द्रियता को कितना महत्त्वपूर्ण मानते हैं? वे विवाहितों को भी कैसा बनने का परामर्श देते हैं? यदि ऋषि की बातों को मानो, तो गृहस्थ बनने के भी लाले पड़ेंगे, तब नियोग कौन कर वा करवा सकेगा? इस बात को कौन नकार सकता है कि ऋषि के द्वारा अनुमोदित गृहस्थ के लिए विरला ही खरा उतर सकता है। नियोग की योग्यता तो इससे भी बढ़कर है। तब कहाँ नियोग पर चर्चा करने चले हो। अच्छा तो यही है कि अपने गिरेबान में झाँककर देखें, फिर कीचड़ उछालें।

भला जो व्यक्ति शरीर शास्त्र का क, ख, ग भी नहीं जानता, उसे एक योग्य सर्जन द्वारा की जाने वाली चीर-फाड़ पर शोर मचाने का क्या अधिकार है? अरे! पहले सर्जन का प्रारम्भिक ज्ञान तो प्राप्त कर लो, उसके बाद सोचना कि सर्जन द्वारा की जाने वाली चीर-फाड़ हिंसा नहीं, बल्कि सच्ची अहिंसा है। इसी प्रकार जो अति जितेन्द्रिय योगी पुरुष वा स्त्री हैं, वे ही नियोग करने वा कराने की योग्यता रखते हैं और वे ही इस विषय पर विशेष चिन्तन कर सकते हैं। सिद्धान्ततः विचार तो हर प्रबुद्ध व निष्पक्ष व्यक्ति कर सकता है, जो भले ही पूर्ण जितेन्द्रिय न हो, परन्तु इन्द्रियासक्ति को पाप तो मानता हो। इन्द्रियासक्ति को स्वाभाविक मानने वाले के मस्तिष्क में यह बात सात जन्म तक भी नहीं समा सकती कि नियोग अच्छा है और बुरा तो उसे इस कारण कहा जा रहा है, क्योंकि समाज आज बुरा कहता है। इस समाज में क्या-2 पाप खुले वा छुपे में हो रहे हैं, उधर ध्यान न समाज देता है और न आरोप लगाने वाले।

आज नियोग ही नहीं, अपितु कई ऐसी वैदिक व्यवस्थाएँ हैं, जो किसी भी निष्पक्ष सत्यमार्गी व्यक्ति को उचित प्रतीत होंगी, परन्तु उन्हें करना सम्भव नहीं है। जैसे वेद ने कहा कि यदि कोई हमारी गाय, घोड़ा वा मनुष्य को मारेगा, तो उसे गोली से मार देना चाहिए। यद्यपि यह आदेश पूर्णतः उचित व हितकारी है, परन्तु आज की सामाजिक व राजव्यवस्था इसे करने नहीं देगी। हजारों निर्दोष प्राणियों के हत्यारे को मारने वालों को दण्ड देने वाला वीर पुरुष भी उसी प्रकार जेल में बन्द कर दिया जायेगा, जिस प्रकार कोई अन्य हत्यारा बन्द किया जा सकता है। तब यह कैसा अन्धा कानून है? इस अन्धे कानून के रहते आज वेद का उचित व उत्तम आदेश व्यर्थ ही हो गया है। तब वेदादेश को क्या दोष दिया जाये? उस उत्तम व्यवस्था को दिया जाये वा आज के पापपूर्ण तथाकथित समानता के व्यवहार का दम्भ करने वाली कानून व्यवस्था को दिया जाये? यह पाठक स्वयं सोचें।

यदि यह व्यवस्था लागू करने भी दी जाये, तो परस्पर खून ही बहने लगेंगे। जिसमें ताकत होगी, वह कमजोर को अवसर पाकर मारता ही रहेगा। आज पापी को गोली मारने का स्तर रखने वाले भी तो विरले ही हैं। वैदिक आर्ष व्यवस्था वह भी है कि जो धनी दान नहीं करता और जो गरीब तप नहीं करता, उन दोनों को मार डालना चाहिए। (देखें विदुर नीति) यदि आज यह व्यवस्था लागू हो, तो भी भयंकर रक्तपात हो जाये, क्योंकि आज तो दान माँगने वाले अर्थचोरों का भी एक जाल बिछा हुआ है, जो बलपूर्वक दान माँगेगा और न देने पर विदुर जी का प्रमाण देकर अदाता को मार डालेगा। उसी प्रकार भूखे-नंगे शोषितों को रक्तशोषक धनी तप करने का उपदेश करेगा, अन्यथा मार डालने को तत्पर रहेगा। इस कारण यह व्यवस्था भी वर्तमान में उचित नहीं है, क्योंकि न तो आज

तपस्वी भिक्षार्थी रहे और न परोपकारी धनी व्यक्ति रहे।

इसलिए आज वैदिककालीन उत्तमोत्तम, परन्तु इस प्रकार की तीक्ष्ण वा आपद्धर्म की व्यवस्थाओं को सहसा अपनाने की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण वातावरण को ही वेदानुकूल बनाने की आवश्यकता है। उसके पश्चात् ही उन व्यवस्थाओं को लागू किया जा सकता है, अन्यथा योग्य व्यक्ति को भी नियोग का अधिकार नहीं होना चाहिए, क्योंकि यद्यपि वह उचित कर रहा है, पुनरपि अनधिकारी लोग उसके स्तर को न जानकर स्वयं सन्तान हेतु नहीं, बल्कि व्यभिचार में प्रवृत्त हो सकते हैं, जिससे सामाजिक ढाँचा चरमरा सकता है। हाँ, यदि कभी वैदिक साम्राज्य वा समाज स्थापित हो जाये, तो पुनः वे सारे नियम सहज लागू हो सकते हैं। परन्तु इतना भी स्मरण रहे कि तब भी नियोग सामान्य धर्म न होकर आपद्धर्म ही रहेगा, जबकि विवाह सामान्य धर्म ही रहेगा।

मैंने नियोग-प्रथा पर उपर्युक्त लेख सन् 2005 में लिखा था। इसे संशोधित करने के स्थान पर कुछ टिप्पणी लिख रहा हूँ—

1. नियुक्त पति को देवर कहा है, जिसका अर्थ पति का छोटा वा बड़ा भाई करना मुझे उचित प्रतीत नहीं होता, बल्कि यह आपत्तिजनक है। वाल्मीकि कृत रामायण के अनुसार महात्मा श्री लक्ष्मण ने कभी अपनी भाभी देवी सीता के मुख को भी ध्यान से नहीं देखा था, इसी कारण वे उनके बाजूबन्द एवं कुण्डलों की पहिचान नहीं कर सके। ऐसे आदर्शों में कोई पति के भाई का भाभी से नियोग कैसे कर सकता था? इस कारण मुझे देवर की यह वर्तमान परिभाषा मान्य नहीं है। हाँ, दूरस्थ उच्च कुल का व्यक्ति ही ऐसा आपद्धर्म अपना सकता है।

2. महाराज पाण्डु को महर्षि कर्दम द्वारा शाप देने की घटना और महाराज

पाण्डु का सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ हो जाना, पुनः धर्म, वायु, इन्द्र आदि देवताओं का महारानी कुन्ती से नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करना भी मुझे प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। जब ऋषि दयानन्द ने ही अपने विषदाता को क्षमा कर दिया था, तब महाभारतकालीन कर्दम ऋषि इतने क्रोधी व प्रतिशोधी कैसे हो सकते हैं? शाप व वरदान के सभी प्रसंग अधिक मीमांसा चाहते हैं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या इन देवों से पाण्डवों का कोई सम्बन्ध नहीं था? यह विषय इतिहास का होने से प्रामाणिक रूप से हम कुछ कहने में असमर्थ हैं, पुनरपि हमारे मत में ऐसा प्रतीत होता है कि इन देवों ने महाराज पाण्डु के वनवास काल में युधिष्ठिर आदि राजकुमारों को पृथक्-पृथक् दीक्षा दी हो अर्थात् वे उनके गुरु रहे हों।

3. वानर वर्ग के विभिन्न योद्धाओं में देवों का अंश होने अर्थात् वे सभी देवों द्वारा किये गये नियोग से पैदा हुए थे, यह बात भी प्रक्षिप्त प्रतीत होती है। क्या उन सभी वानर योद्धाओं के पिता एक साथ अशक्त हो गये कि उनकी पत्नियों को नियोग जैसा आपद्धर्म अपनाना पड़ा? मुझे यह बात कदापि स्वीकार्य नहीं है।

इस प्रकार हमने नियोग विषय पर व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर दिया है। हम पुनः दृढ़तापूर्वक यह कहना चाहेंगे कि यह प्रथा अत्यन्त आपत्ति काल में ही पूर्ण जितेन्द्रिय योगी जनों के लिए ही उचित है, अन्य किसी के लिए भी कभी नहीं।

आक्षेप—

बृहदारण्यक उपनिषद्, जो मुख्य 11 उपनिषदों में से एक है। उसके अन्दर एक अवैज्ञानिक प्रकरण आता है—

बृहदारण्यक उपनिषद् 6 अध्याय 4 ब्राह्मण 14 मन्त्र—

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति
क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै॥

अर्थात्— सो जो कोई चाहे कि मेरा पुत्र शुक्ल श्वेत हो और एक वेद का वक्ता हो, सम्पूर्ण 108 आयु को प्राप्त करे, तो वह पुरुष अपनी स्त्री से क्षीरौदन अर्थात् चावल के साथ खीर बनवा कर उसमें घृत डाल दोनों स्त्री-पुरुष उस खीर को खायें (जनयितवै ईश्वरौ) तब वे दोनों अवश्य ही वैसे पुत्रोत्पादन में समर्थ होवेंगे॥

(बृहदारण्यक उपनिषद् हिन्दी आर्य भाष्य शिवशङ्कर शर्मा 1917)

जो पुरुष चाहता हो कि मेरा पुत्र शुक्ल वर्ण का उत्पन्न हो, एक वेद का अध्ययन करे तथा पूरी आयुभर-सौ वर्षों तक जीवित रहे, तो वे दोनों पति-पत्नी दूध-चावल का खीर पकाकर उसमें घी डालकर खायें। इससे वे वैसे पुत्र को जन्म देने में समर्थ होते हैं॥

(शाङ्करभाष्यार्थ, चौखम्बा प्रकाशन)

दोनों भाष्यों में श्वेत वर्ण वाले और वेद वक्ता बालक की कामना में खीर खाने का प्रावधान है। यह बात वैज्ञानिक तौर पर असत्य है। आखिर खीर खाने से कोई बालक वेद वक्ता और श्वेत वर्ण का क्योंकर हो सकता है? वह तो माता-पिता के जीन्स पर निर्भर करता है। इसी प्रकार की अवैज्ञानिक बात चरक संहिता, शरीर स्थान, 8वें अध्याय और 9वें मन्त्र में भी आती है—

सा चेदेवमाशासीत-बृहन्तमवदातं हर्य्यक्षमोजस्विनं शुचिं
सत्त्वसम्पन्नं पुत्रमिच्छेयमिति। शुद्धस्नानात् प्रभृत्यसौ
मन्थमवदातं यवानां मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्य श्वेताया गोः
संरूपवत्सायाः पयसाऽऽलोड्य राजते कांस्ये वा पात्रे
काले काले सप्ताहं सततं प्रयच्छेत् पानाय।

प्रातश्च शालियवान्नविकारान् दधिमधुसर्पिर्भिः
पयोभिर्वा संसृज्य भुञ्जीत, तथा
सायमवदातशरणशयनासनयानवसनभूषणवेशाच स्यात्।

सायं प्रातश्च शश्वच्छ्वेतं महान्तं वृषभमाजानेयं
वा हरिचन्दनाङ्गदं पश्येत्।

सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिरुपासीत।

सौम्याकृतिवचनोपचारचेष्टांश्चस्त्रीपुरुषानितरानपि
चेन्द्रियार्थानवदातान् पश्येत्।

सहचर्य्यश्चैनां प्रियहिताभ्यां सततमुपचरेयुस्तथा भर्त्ता
न च मिश्रीभावमापद्येयातामिति।

अनेन विधिना सप्तरात्रं स्थित्वाऽष्टमेऽहन्याप्लुत्याद्भिः
सशिरस्कं सह भर्त्रा चाहतानि वस्त्राण्याच्छादयेदवदातानि,
अवदाताश्च स्रजो भूषणानि बिभृयात्॥

अंग्रेजी अनुवाद—

A woman desirous of having a male child with large limbs, fair complexion, with eyes like those of a lion (full of vigor), pure, and with good mental disposition should, after hermenstrual period, first take a purificatory bath, then be given a light porridge of well cleanedwhite barley grains duly sweetened by adding honey and ghee, diluted in the milk of a whitecow having a white calf, in a utensil made of silver or bronze, regularly in the morning andevening for a week.

During mornings and evenings, she should eat a diet prepared with sali rice and/or barley mixed with curd, honey, ghee or with milk. Her room, bed, seat, drink, dress and ornaments etc. all should be of white color. In the evenings and mornings, she should look at a white majestic bull/stallion duly smeared with white sandal paste without fail. She should also be entertained with pleasant tales of her interest, acceptable to her mood. She should also look at men and women having good personality, speech, behaviour and manners, as well as visuals and objects that are white in color.

Her companions and husband should also entertain her with things, discussion topics, and activities that are pleasant to her, and not stressful.

The couple, should, however avoid sexual contact during this period. Following this regimen for a week, on the eighth day she, along with her husband, after taking a head bath with pure (consecrated – abhimantritam) water, getprepared for coitus by adorning themselves with new white apparel, garlands and ornaments. [9]

कृपया अब यह सिद्ध करें कि ये बातें किस प्रकार वैज्ञानिक हैं? क्योंकि आधुनिक विज्ञान में ऐसा कुछ भी नहीं आता। क्या खीर खाने से श्वेत रंग का बालक हो सकता है? इसको स्पष्ट करें।

समाधान— यह आक्षेप निवाकरण झा की ओर से प्रस्तुत किया गया है। इन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद् के साथ-साथ चरक संहिता को भी चुनौती दी है। मुझे जानकारी नहीं है कि इन्हें आयुर्वेद अथवा आधुनिक आयुर्विज्ञान का कितना ज्ञान है? यह आक्षेप विज्ञान की सामान्य जानकारी के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। वस्तुतः आज के युवकों में बौद्धिक दासता का ऐसा रोग लगा है कि जिस बात को कोई पश्चिमी व्यक्ति कह दे, उसे वैज्ञानिक प्रमाण मान लिया जाता है और जो बात वेदों अथवा ऋषियों के द्वारा कही गई हो, वह अवैज्ञानिक प्रतीत होती है। वर्तमान विज्ञान की भयंकर भूलों को मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ।

माता-पिता के जीन्स के साथ-साथ शिशु के पूर्व जन्म के संस्कार और गर्भवती माता के द्वारा अन्न एवं ओषधियों के सेवन का शिशु पर प्रभाव न केवल मनुष्यों में होता है, अपितु पशुओं में भी देखा जाता है। एक ही माता-पिता की सन्तानों में भी भिन्नता देखी जाती है, जबकि माता-पिता के जीन्स वही रहते हैं। तब एक ही माता-पिता के सभी

बच्चों में जो भी अन्तर पाया जाता है, उसका कारण उन बच्चों के पूर्व कर्म और गर्भवती माता द्वारा प्रयोग में लाए गए अन्न और ओषधि का ही प्रभाव होता है।

यहाँ जो खीर खाने का वर्णन किया गया है, उसमें केवल गोदुग्ध और चावल का ही प्रयोग नहीं हुआ है, अपितु मधु और गोघृत के सेवन का भी विधान किया गया है। इसके साथ ही चाँदी अथवा काँसे के पात्रों में खीर खाने का विधान भी किया है। इस प्रकार यह खीर नहीं, बल्कि एक ओषधि है। आज का विज्ञान तो आयुर्वेद की किसी ओषधि को अवैज्ञानिक कह सकता है। वह करोड़ों वर्ष की हमारी वैज्ञानिक परम्परा को अमान्य घोषित कर सकता है। तब क्या हम ऐसे कथित विज्ञान की हर बात को आँख बन्द करके मान लें? इस बात पर प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति को विचार करना होगा।

* * * * *

आक्षेप—

प्रकाश मेघवाल— श्रीमान्! मेरा आक्षेप वर्ण-व्यवस्था पर है, जिसका समर्थन 'मनुस्मृति' करती है। वर्ण-व्यवस्था के फलस्वरूप ही हमारे धर्म में जातिवाद बढ़ा है और जातिवाद जैसी भेदभावपूर्ण व्यवस्था ने हमारे धर्म को तोड़ के रख दिया है। इसी की वजह से अन्य अनेक धर्मों और समाजों का निर्माण हुआ है तथा हमारा धर्म बँटा हुआ और बिखरा हुआ साबित हुआ है। अगर आज हमारे धर्म में एकता होती, तो हमें हमारे भारत को फिर से 'सोने की चिड़िया', 'विश्वगुरु' और 'आर्य्यावर्त' जैसा विशाल 'अखण्ड भारत' बनाने में आसानी होती।

मुझे लगता है कि जिन लोगों ने ऐसी व्यवस्था को बढ़ावा दिया और मानव-मानव में अन्तर करके उनको ऊँच-नीच में बाँटकर छुआछूत व अस्पृश्यता जैसे अमानवीय कृत्य को बढ़ावा देकर उनके साथ शोषण किया और धर्म की एकता को काफी खण्डित किया है, ऐसे लोगों को मैं 'धर्म की एकता के हत्यारे' और 'घनघोर पापी' कहना पसन्द करता हूँ।

मेरा मानना है कि विश्व में सनातन संस्कृति का प्रचार-प्रसार करने से ज्यादा ध्यान हमें अपने ही देश में रह रहे नागरिकों को सम्पूर्ण सम्मान दिलाने और उन्हें एकता के सूत्र में पिरोने पर देना चाहिए,

ताकि हमारे देश के नागरिक इस धर्म का पालन सम्मान के साथ कर सकें। उन्हें अपने धर्म और संस्कृति पर गर्व की अनुभूति हो सके और वे भी इसका गुणगान विश्व भर में आनन्द, उल्लास और उन्माद के साथ कर सकें।

महोदय! क्या आप मानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था ठीक ही थी और है? यदि हाँ, तो क्यों और इसके पीछे कौनसे धार्मिक, सांस्कृतिक, मानवीय और वैज्ञानिक कारण हैं, क्या इसकी आज भी प्रासंगिकता है, और क्या भगवान् भी अलग-अलग घर में जन्म लेने वाले मानव में अन्तर करते हैं?

लेकिन अगर आप मानते हैं कि यह व्यवस्था ठीक नहीं है, गलत है, अत्याचारी है, शोषणकारी है, देश और धर्म को तोड़ने वाली है, तो आज आप जातिवाद और भेदभाव जैसी कुप्रथाओं और शोषण को समाप्त करने के लिए क्या प्रयास कर रहे हैं? और विभिन्न धर्मगुरुओं और धर्म के प्रचार-प्रसार में कार्य करने वाले कार्य-कर्त्ताओं को इस व्यवस्था को समाप्त करने की दिशा में क्या-क्या कार्य करने के निर्देश दे रहे हैं?

सुभाष चौहान— आदरणीय आचार्य अग्निव्रत जी सादर नमन! मैं आपके पुरुषार्थ की सराहना करता हूँ कि आप बिना किसी शंका के एक बहुत ही अच्छा कार्य कर रहे हैं। किन्तु आपके सब प्रयास उस समय निरर्थक साबित हो जायेंगे, जब आप किसी बीमार शरीर के रोग की जड़ पर प्रहार किए बिना ऊपर ऊपर से औषधि लेपन करने

का पुरुषार्थ करते रहोगे और बीमार शरीर के स्वस्थ होने की कामना करते रहोगे। हमारे समाज को सबसे अधिक हानि पहुँचाई है वेद ने, वेद में आये तीन शब्दों 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' ने। ये शब्द तो ऐसा समझिए कि अपने समाज के लिए जहर बन गए हैं। शूद्र शब्द का अस्तित्व में आना मानव समाज के लिए एक कलंक साबित हुआ है। जिस भी किसी महान् हस्ती ने शूद्र शब्द की रचना की थी, वो इस संसार को शूद्र शब्द की व्याख्या देने में नाकाम रहा। फिर बाकी के लोगों ने अपने से इस शब्द की जो भी व्याख्या देनी शुरू की, वो तो इस शब्द को निम्न से निम्नतर बनाते चले गए। मेरा आप को सुझाव है कि आप इस शब्द को शास्त्रों से हटवाने के लिए पुरुषार्थ करें। आज की तारीख में जिस भी किताब में शूद्र शब्द आता है, मैं उस किताब को जहरीली मानता हूँ और जलसमाधि देने के योग्य समझता हूँ। भारत रत्न अम्बेडकर जी ने तो मनुस्मृति में जहर को देखते हुए उसे जला ही दिया था।

मेरी चुनौती— आज तक कोई एक भी आदमी ऐसा नहीं पैदा हुआ कि जिसे 'शूद्र' कहा जा सके। मेरा मोबाइल नम्बर 8104116101 है और मैं इस विषय पर बातचीत के लिए उपलब्ध हूँ। इस विषय के ज्ञानी जन प्रमाण के साथ मुझसे चर्चा करने के लिए आमंत्रित हैं।

समाधान— ये आक्षेप श्री प्रकाश मेघवाल और श्री सुभाष चौहान के द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। आज सम्पूर्ण देश में मनुस्मृति को लेकर बहुत से भ्रम हैं। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि मनुस्मृति में समय-समय पर वेदविरोधी और देशद्रोही तत्त्वों ने नाना प्रकार की मिलावटें की हैं। उन मिलावटों के लिए भगवान् मनु को उत्तरदायी कहना बुद्धिमानी नहीं है।

जिस प्रकार अपने देश में हमारी संसद द्वारा अनेक संविधान संशोधन किये गये हैं। इनमें से किसी भी संशोधन के लिए संविधान सभा के विद्वान् किसी भी प्रकार से उत्तरदायी नहीं हैं। इसलिए वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृति में विद्यमान आपत्तिजनक श्लोकों के लिए भगवान् मनु को उत्तरदायी कदापि नहीं ठहराया जा सकता।

यह बात भी दुःखदायी है कि आज भी अनेक तथाकथित धर्मध्वज-वाहक मनुस्मृति में हुई मिलावट को मिलावट न मानकर छुआछूत जैसे पापों के पोषक बने हुए हैं। हाँ, आर्यसमाज के विद्वानों ने मनुस्मृति को शुद्ध रूप प्रदान करने के लिए बहुत परिश्रम किया है। उन सबमें डॉ. सुरेन्द्र कुमार जी द्वारा किया गया मनुस्मृति का भाष्य सर्वोत्तम है, जो आर्ष सहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली से प्रकाशित है। जिनकी मनुस्मृति पर व्यापक शोध करने की इच्छा है, उन्हें इस मनुस्मृति को पढ़ना चाहिए। इसके साथ ही डॉ. सुरेन्द्र कुमार द्वारा लिखी हुई 'महर्षि मनु बनाम डॉ. अम्बेडकर' एवं 'भगवान् मनु का विरोध क्यों' पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिए।

इसके साथ ही जिन्हें 'पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' का यथार्थ एवं वर्ण-व्यवस्था की निष्पक्ष विवेचना सरल शब्दों में पढ़नी हो, तो वे मेरी पुस्तक 'जातिवाद और भगवान् मनु' अवश्य पढ़ें। यह पुस्तक हमारी वेबसाइट[1] पर भी उपलब्ध है। इस पुस्तक को पढ़कर कोई भी मनुविरोधी व्यक्ति यह मानने के लिए विवश हो जाएगा कि भगवान् मनु सम्पूर्ण मानवता के सबसे बड़े हितैषी थे।

* * * * *

[1] vaidicphysics.org

आक्षेप—

हमारे ग्रन्थों पारस्कर गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में यज्ञों में गौ आदि पशुवध की बात कही गई है व गौ आदि पशुओं का मांस खाने की बात भी कही गई है।

पारस्कर गृह्यसूत्र में गेवध व गेमांस भक्षण—

1. अपूपमा सशाकैर्यथासंख्यम् (3.3.3)
2. मध्यमा गवा (3.3.8)
3. तस्यै वपां जुहोति वह वहां जातवेद: पितृभ्य इति (3.3.9)
4. शूलगव याग (पा.3.8.1)

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में गौ आदि वध व मांस भक्षण—

1. अविकृतमातिथ्यम्। (तृतीय पटल, खण्ड-7, सूत्र-26)

2. उत्तरायाभिमंत्र्य तस्यै वपां श्रपयित्वोपस्तीर्णाभिघारितां मध्यमेना-न्तमेन वा पलाशपर्णेनोत्तरया जुहोति।

(पञ्चम पटल, तेरहवाँ खण्ड)

3. अन्वष्टका कर्म-अत एव यथार्थ मांसं शिष्टवा श्वोभूतेन्वष्टकाम।

(अष्टम पटल, 22वाँ खण्ड)

इसके अलावा भी इन गृह्यसूत्रों में व अन्य भी गृह्यसूत्रों में जगह-

–जगह यज्ञों में गौवध और गौमांस वितरण व भक्षण का विधान है ।

—प्रभात कुमार

समाधान— यहाँ आपने क्रम संख्या 1 पर मांस का अर्थ जो गोमांस किया है, वह आपत्तिजनक है। आर्ष ग्रन्थों का अर्थ करने के लिए अत्यन्त सावधानी और व्यापक स्वाध्याय की आवश्यकता होती है। लोकप्रचलित अर्थ करके शास्त्रों को बिगाड़ा तो जा सकता है, परन्तु समझा नहीं जा सकता। यदि मांस शब्द का अर्थ लोकप्रचलित मांस नामक अभक्ष्य पदार्थ ही करें, तो निम्नलिखित वचनों का क्या अर्थ करोगे?

नभो मांसानि (तै.सं.7.5.25.1), मांसानि विराट् (जै.2.58)
मांसं वै पुरुषम् (श.8.6.2.14)

इस कारण यह ध्यान रहे कि पारस्कर गृह्यसूत्र के इस प्रकरण में मांस का अर्थ यह लोकप्रचलित मांस नहीं है। इसी प्रकार 'अपूप' का अर्थ भी 'मालपूआ' नहीं है। अपूप के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास ने लिखा है—

इन्द्रियमपूपः (ऐ.ब्रा.2.24)

इसी प्रकार अन्य ऋषियों का भी कथन है—

इन्द्रस्यापूपः इतीन्द्रियं वा इन्द्रः (मै.सं.3.10.6; कपि.सं.45.2)

इसी प्रकार 'शाकः' पद का अर्थ भी खाद्य पदार्थ शाक वनस्पति नहीं है। 'शाकः' पद शाक प्रातिपदिक से अच् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है— शक्तिशाली रश्मि आदि पदार्थ। हमारी दृष्टि में अपूप का अर्थ इन्द्रतत्त्व की इन्द्रिय अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ है।

मांस पद का अर्थ विराट् छन्द रश्मियाँ है तथा शाक का अर्थ शक्वरी छन्द रश्मियाँ है।

मैं यहाँ इस प्रकरण का भाष्य नहीं कर रहा हूँ, लेकिन आप जैसों को समझाने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है। भाष्यकारों ने जो भूलें वेद का भाष्य करने में की हैं, ऐसी ही भूलें आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करने में भी कर दी हैं।

आपने क्रम संख्या 2, 3 एवं 4 में 'गौ' का अर्थ गाय नामक प्राणी एवं 'वपा' का अर्थ गाय की चर्बी कर दिया है। वस्तुतः ये अर्थ आपके किये हुए नहीं हैं। इस कारण दोषी आप नहीं हैं, परन्तु जिनके अनुवाद पढ़कर आपने ये आक्षेप लगाए हैं, मुख्यतः वे अनुवादक ही दोषी हैं। गौ शब्द का अर्थ गाय कर देना यह दर्शाता है कि भाष्यकार या अनुवादक को शास्त्रों की वर्णमाला का भी ज्ञान नहीं था। अगर 'गौः' का अर्थ गाय ही करें, तो निम्नलिखित आर्ष वचनों का अर्थ क्या होगा?

1. अन्तरिक्षं गौः (ऐ.ब्रा.4.15)
2. असौ द्यौः गौः (जै.ब्रा.2.439)
3. आग्नेयो वै गौः (श.ब्रा.7.5.2.19)
4. इयं पृथिवी वै गौः (काठ.सं.37.6)
5. गावो वै शक्वर्यः (जै.ब्रा.3.103)
6. गौस्त्रिष्टुप् (तै.सं.7.5.1.5)
7. जगती छन्दस्तद् गौः (मै.सं.2.13.14)
8. प्राणो हि गौः (श.ब्रा.4.3.4.25)

इन वचनों के रहते अगर कोई व्यक्ति वेद अथवा आर्ष ग्रन्थों में 'गौः' पद का अर्थ गाय ही करे, तो उसे क्या कहेंगे? आप स्वयं सोच

सकते हैं। इसी प्रकार हम वपा के विषय में कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं—

1. आत्मा वपा (तै.सं.6.3.9.6)
2. स्वर्गो वपा (काठ.सं.26.7)

यह पद 'डुवप् बीजसन्ताने' धातु से व्युत्पन्न होता है अर्थात् बीजारोपण करने की क्रिया को भी वपा कहते हैं। इस प्रकार वपा शब्द को देखकर ही गाय अथवा किसी पशु की चर्बी अर्थ कर देना अज्ञानता है।

इसी प्रकार अन्य गृह्यसूत्रों के विषय में भी समझें। पुनरपि इतना अवश्य ध्यातव्य है कि वेद के अतिरिक्त सभी ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं। यदि उनमें कहीं आपत्तिजनक प्रसंग दिखाई देते हैं, तो सर्वप्रथम उन ग्रन्थों के भाष्यकार अथवा अनुवादक को चाहिए कि उन प्रसंगों का अन्य आर्ष ग्रन्थों के निर्वचनों के आधार पर एवं उस ग्रन्थ की मूल भावना के आधार पर ही अर्थ करने का प्रयास करे। यदि फिर भी आपत्तिजनक प्रसंगों का अर्थ अनुकूलतापूर्वक नहीं हो सके, तो यह विचारे कि कहीं वह प्रसंग प्रक्षिप्त (मिलावट) तो नहीं है। ऐसा करने पर विद्वान् भाष्यकार अवश्य ही सत्य का बोध कर पाएँगे।

* * * * *

आक्षेप—

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात्...

—बृहदारण्यक उपनिषद् 6.4.7 (अध्याय 6, ब्राह्मण 4, काण्ड 7)

इसमें पत्नी को हाथों से या डंडे से मारने की बात की है। यजुर्वेद में पत्नी को अघ्न्या कहा है, लेकिन यहाँ पर ऐसा क्यों?

—सुशान्त पाण्डे

समाधान— यहाँ आक्षेप किया गया है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में पति के द्वारा पत्नी को पीटने का विधान है। इस विषय में हमारा मत है कि यह उद्धरण प्रक्षिप्त है, जो वेद और मनुस्मृति के नितान्त विरुद्ध है। इससे पूर्व और अपर विषय को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि इस अभद्र कथन की कहीं कोई आवश्यकता नहीं है। यह विषय नारी के प्रति भेदभाव की दुष्ट मानसिकता वाले किसी व्यक्ति ने यहाँ जोड़ दिया है। भगवान् मनु का धर्मशास्त्र मनुस्मृति भारत और विश्व भर के सामाजिक, राष्ट्रीय और परिवारिक व्यवहारों के लिए प्रमाणभूत रहा है। भगवान् मनु का नारी के विषय में कथन है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रियाः॥ (मनु.3.56)

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ (मनु.3.60)

तर्क और विज्ञान की दृष्टि से भी उत्पीड़ित नारी परिवार और सन्तान दोनों के लिए ही सुख नहीं दे सकती। इस कारण निश्चित ही यह किसी शरारती तत्त्व की शरारत है।

* * * * *

शंका—

ऋषि दयानन्द ने सूर्यलोक और चन्द्रलोक में भी मानव जीवन बताया है, यह कैसे सत्य हो सकता है?

—राणा

यहाँ आक्षेपकर्त्ता श्री राणा ने ऋषि दयानन्द के इस मन्तव्य पर आक्षेप किया है कि सूर्यादि लोकों में प्राणी कैसे रह सकते हैं?

सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में महर्षि दयानन्द जी ने सूर्यादि लोकों में भी मनुष्यादि प्रजा का होना लिखा है। वर्तमान विज्ञान के अनुसार सूर्य के तल पर तापमान 4000-7000°से. तक है। उसके भी ऊपर कोरोना नामक अत्यन्त चमकीला भाग होता है, जो लगभग 2 लाख °से. तक गर्म होता है। सूर्य तल पर हजारों कि.मी. ऊँची-2 प्रचण्ड अग्नि की ज्वालाएँ उठती रहती हैं। भयंकर सौर तूफान आते रहते हैं। अनेक विस्फोट होते रहते हैं। वहाँ पर किसी तत्त्व के एटम भी केवल आयनों के रूप में रह सकते हैं, जो स्वच्छन्द विचरण करते रहते हैं। इस अवस्था को प्लाज्मा अवस्था कहते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्यादि प्रजा का होना कैसे सम्भव है? ऐसी स्थिति में शरीर के अवयवों का अस्तित्व कैसे सम्भव है? यह बात सर्वथा अवैज्ञानिक व बुद्धिविरुद्ध होने से सत्यार्थ प्रकाश के ऊपर एक भारी कलंक ही प्रतीत होती है।

आश्चर्य है कि विज्ञान व सत्य के महान् समर्थक महर्षि जी ने ऐसी मिथ्या बात कैसे लिख दी? आज के वैज्ञानिक युग में इस बात से उपहास के अतिरिक्त और क्या उपलब्धि हो सकती है?

समाधान— वस्तुतः यह प्रश्न अनेक उच्चस्तरीय आर्य विद्वानों को भी उलझन में डाले है। इस प्रश्न का उत्तर मैं अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश–उभरते प्रश्न गरजते उत्तर' में दे चुका हूँ, उसी को यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

वस्तुतः हम प्रायः अपने सामर्थ्य, परिवेश व स्वभाव से तुलना करते हुए ही अन्यों पर विचार करते हैं। हम प्रायः 0–50°से. तक के ताप में रहने के अभ्यस्त होते हैं। उस पर भी अनेक साधनों का उपयोग करके ही ऐसा कर पाते हैं, जिससे शरीर का ताप नियन्त्रित रह सके। कई जीव, विशेषकर ध्रुवीय प्रदेशों के जीव लगभग –50°से. वा –60°से. ताप पर भी बिना किसी साधनोपसाधनों के मस्त रहते हैं। उधर समुद्र की अत्यन्त गहराइयों में जहाँ जल का अत्यन्त दबाव रहता है, वहाँ लगभग 200°से. वा इससे भी ऊपर ताप पर उबलते जल की धारा में भी जीवों को देखा गया है। इस प्रकार लगभग –60°से. से लेकर 200°से. अर्थात् 260°से. तापान्तर के क्षेत्र में जीवों को देखा गया है। सम्भव है कि इससे भी बड़े तापान्तराल में भी इस अपनी परिचित पृथिवी पर ही जीवों की सत्ता हो। इस तापान्तराल पर मानव का स्वाभाविक अवस्था में रहना कदापि सम्भव नहीं है।

इस प्रकार के जीवों की खोज से पूर्व कोई भी इनके अस्तित्व पर शंका ही करता होगा, परन्तु अब यह बात शंकास्पद नहीं रही। परन्तु

कोई कहेगा कि इस ताप पर रहना अलग बात है और सूर्य की उपर्युक्त प्लाज्मावस्था में रहना इससे अत्यन्त भिन्न बात है। आज तो यह विषय भी बड़ा विवादित है कि क्या इस पृथिवी के बाहर अन्यत्र कहीं प्राणी रहते भी हैं वा नहीं? उड़न तश्तरी की कहानियाँ एवं अन्य लोकों से मनुष्य जाति के प्राणियों के इस धरती पर आने की चर्चा एक लम्बे काल से सुनी जाती रही है। अनेक वैज्ञानिकों की दृष्टि में परग्रही जीवों का अस्तित्व सिद्ध है, तो कोई मानने के लिए तैयार नहीं है। वर्तमान में अपनी प्रतिभा के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्टीफन हॉकिंग परग्रही जीवों की सत्ता के प्रबल समर्थक हैं।

डिस्कवरी टी.वी. चैनल पर कई बार वे इस विषय में प्रबल दावा करते देखे व सुने हैं। दिनांक 09.07.10 शुक्रवार को मैंने उनको सुना। वे कह रहे थे कि 'प्राणी जल के अभाव में −196°से. के अत्यन्त कम ताप पर तरल नाइट्रोजन पर निर्भर रह सकते हैं' अर्थात् बिना जल भी जीवन सम्भव है। अब तक समस्त वैज्ञानिक जगत् जीवन के लिए जल का होना अनिवार्य मानता था। जीवन की खोज में चन्द्रमा, मंगल वा दूरस्थ ग्रहों पर जल की खोज के भारी प्रयास हुए एवं अभी भी सतत ये प्रयास हो रहे हैं।

अगर कहीं जल की सत्ता के थोड़े भी संकेत मिले, तो वैज्ञानिकों ने उस खोज को जीवन की खोज की दिशा में अत्यन्त महत्त्व दिया, परन्तु अब स्टीफन हॉकिंग का उपर्युक्त कथन यह संकेत कर रहा है कि जीवन के लिए जल (H_2O) का होना अनिवार्य नहीं है। तब उन प्राणियों के जलविहीन शरीर कैसे होंगे? उनके भोजन की क्या व कैसे व्यवस्था होगी? यह सब अब विचित्र हो गया है और इस वैचित्र्य को शनैः−2 विज्ञान स्वाभाविक मानने की दिशा में बढ़ रहा है। स्टीफन हॉकिंग

जलविहीन प्राणी की अवधारणा से बहुत आगे बढ़कर उसी उपर्युक्त कार्यक्रम में कहते हैं—

''परग्रही जीव गैसों के बने भी हो सकते हैं, जो लगातार कड़कने वाली विद्युत् से ऊर्जा ले सकते हैं। ऐसे ग्रह बृहस्पति व शनि हो सकते हैं। उसके आगे कहते हैं कि कुछ जीव अपनी उम्र का बढ़ना रोककर अमर हो गये हों।''

अब मैं आपसे प्रश्न करना चाहूँगा कि क्या अब तक आपने कभी सोचा भी था कि हॉकिंग जैसा विश्व का महान् वैज्ञानिक प्राणियों के गैसीय शरीर की सत्ता भी मानेगा? साथ ही कुछ प्राणियों द्वारा अमर होने की सम्भावना को भी स्वीकार करेगा। हॉकिंग के मतानुसार आप सोचें, तो पायेंगे कि ऐसे परग्रही जीवों के हृदय, फेफड़े, मस्तिष्क, अस्थियाँ, रक्त, मांस, मज्जा आदि भी नहीं होंगे, तब हॉकिंग कैसे शरीरों की कल्पना कर रहे हैं? उनकी इस कल्पना पर कोई बुद्धिजीवी नास्तिक शंका नहीं करेगा, क्योंकि वह हॉकिंग को एक महावैज्ञानिक मानकर उनकी हर बात को प्रमाण मानेगा, परन्तु वही बुद्धिजीवी महर्षि दयानन्द जी पर प्रश्न करेगा, क्योंकि ऋषित्व उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता।

जरा सोचें कि हॉकिंग के ये परग्रही जीव विद्युत् की गड़गड़ाहट से ही ऊर्जा ले सकते हैं, तब उनके लिए आहार, श्वसन, रक्त परिसंचरण तन्त्र की आवश्यकता ही नहीं रही। जरा सोचें कि ऊर्जा की तो पूर्ति हो गयी। आहार नहीं होगा, तो मल विसर्जन की भी आवश्यकता नहीं होगी। प्रजनन तन्त्र व तंत्रिका तन्त्र कैसे काम करेंगे एवं वे तन्त्र गैसीय अवस्था वाले कैसे होंगे? यह बात आप कैसे मानेंगे? यदि इसे मानेंगे, तो आपको निवेदन कर दूँ कि प्लाज्मा अवस्था गैसीय अवस्था से एक अग्रिम चरण

की अवस्था मात्र है। तब प्लाज्मा अवस्था वाले सूर्य पर प्राणियों का होना कैसे सम्भव नहीं है? क्या इसको भी हॉकिंग मानें, तभी आपको स्वीकार होगा?

आपको तो महर्षि जी की प्रतिभा पर आश्चर्य होना चाहिए कि वैज्ञानिक संसाधनों के बिना तथा वर्तमान गणित विद्या को पढ़े बिना महर्षि ने अपनी प्रतिभा, योगबल एवं वेदविद्या के बल पर ही ऐसे रहस्यों का उद्घाटन किया, जो उस समय तक संसार के किसी भी वैज्ञानिक के लिए अज्ञात व अकल्पनीय थे। गैसीय अवस्था वाले शरीरों की सत्ता भी हॉकिंग को अब समझ में आयी है। अनेक प्रकार के वायुयानादि यन्त्रों का निर्माण भी महर्षि के पश्चात् ही संसार के विकसित विज्ञान ने किया, जबकि महर्षि ने ऐसे ही नहीं, अपितु आज से भी उत्कृष्ट विमानों का संकेत अपने वेदभाष्य में किया था। यदि उस समय पश्चिमी वैज्ञानिक ऋषि का वेदभाष्य पढ़ते, तो उसी तरह अविश्वास करते, जिस तरह आप सूर्य पर प्राणियों की सत्ता पर अविश्वास कर रहे हैं, परन्तु कुछ समय पश्चात् इसे भी सिद्ध ही पायेंगे। स्टीफन हॉकिंग की गैसीय प्राणी की कल्पना से तो आज भी यह लगभग सिद्धवत् है।

प्रश्न— ऋषि सूर्यादि पर रहने वाले जीवों के शरीर, अंग भी हमारी अपेक्षा कुछ भिन्न मानते हैं, इस विषय में आपका क्या कहना है?

उत्तर— जिन लोकों पर प्राणियों के शरीर आकृतिवान् हैं, वहाँ ऋषि का कथन यथावत् उचित है, परन्तु सूर्यादि तारों वा कुछ ग्रहों में जहाँ प्राणियों के शरीर गैस वा प्लाज्मा से बने हैं, वहाँ ऋषि के कथन का आशय यह है कि उन प्राणियों में भी इन्द्रियाँ अपने-2 कार्य करती हैं। वहाँ नेत्रादि अंग भी प्लाज्मा से बने होते हैं। आत्मा व सूक्ष्म शरीर तो सब लोकों में

समान हैं। वे न जलते हैं और न गलते ही हैं। स्थूल शरीर विभिन्न लोकों के परिवेश के अनुसार ठोस, द्रव, गैस वा प्लाज्मा के हो सकते हैं। विभिन्न प्रकार के प्राणों के द्वारा नियन्त्रित होते हैं। गैस वा प्लाज्मा के क्षेत्र भी विभिन्न प्राणादि के द्वारा मर्यादित व नियन्त्रित होकर काम करते हैं। उन प्राणियों के व्यवहार भी तदनुरूप ही होते हैं।

प्रश्न— महर्षि 'मनुष्यादि' शब्द का प्रयोग करते हैं, उससे क्या यह ध्वनित नहीं होता कि महर्षि दो हस्त, दो पाद, दो नेत्रादि युक्त मानव आकार का प्राणी ही मान रहे हैं, न कि स्टीफन हॉकिंग के समान गैसीय शरीर वाले विद्युदादि की कड़क से ऊर्जा ग्रहण करने वाले विचित्र जीवों की सत्ता की बात कर रहे हैं।

उत्तर— मनुष्यादि का तात्पर्य पृथिवी पर विद्यमान मनुष्यादि के आकार वाला प्राणी ही ग्रहण करना उचित नहीं है। महर्षि यास्क जी मनुष्य की परिभाषा करते हुए कहते हैं— 'मत्वा कर्माणि सीव्यतीति' अर्थात् जो विचारपूर्वक कर्म करता है, उसे मनुष्य कहते हैं। यहाँ इस परिभाषा के अनुसार ऋषि दयानन्द जी का यही मन्तव्य है कि सूर्यादि लोकों में विद्यमान प्राणी भी मनन शक्तिसम्पन्न होते हैं। वे स्थूल तंत्रिका तन्त्र से युक्त भले ही न हों, परन्तु उनमें बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ आदि सभी की सत्ता के साथ प्लाज्मा अवस्था वाले ज्ञान तन्तुओं वा अंगों की सत्ता भी अवश्य होती है, जिससे वे हमारी भाँति सम्पूर्ण व्यवहार चलाते हैं।

प्रश्न— 'मनुष्य' पद का अर्थ आप अपनी कल्पना से करके महर्षि जी का अन्धा पक्ष लेकर उनके कथन का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। आपका यह पक्षपाती व पूर्वाग्रही प्रयास सफल नहीं होगा। महर्षि जी ने 'पूषणं न्व...उच्यते' ऋ.6.55.4 के भाष्य में 'अजाश्वम्' पद

का अर्थ करते हुए स्पष्ट लिखा है कि सूर्य में बकरी व घोड़े विद्यमान हैं। अब आप बकरी व घोड़े इन हिन्दी पदों का यौगिक अर्थ करने का साहस करें और बतायें कि ये बकरी व घोड़े कैसे हैं?

उत्तर— सर्वप्रथम मैं सत्यार्थ प्रकाश पर की गयी शंकाओं के निवारण में सत्यार्थ प्रकाश की दृष्टि से विचार करूँगा। महर्षि जी द्वादश समुल्लास में जैन मत का खण्डन करते हुए इस भूगोल में 132 सूर्य तपने की बात पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं— 'अब देखो भाई! इस भूगोल में 132 सूर्य और 132 चन्द्रमा जैनियों के घर पर तपते होंगे। भला जो तपते होंगे, तो वे कैसे जीते हैं?' यदि महर्षि सूर्य में पृथिवी के मनुष्य के समान आकृति वाले प्राणी की सत्ता को मानते, तो सूर्य से लगभग 15 करोड़ कि.मी. दूर पृथिवी पर सूर्य से आने वाले प्रकाश व ऊष्मा से होने वाले ताप का 132 गुणा होने पर मनुष्य नामक प्राणी के जीवित रहने पर व्यंग्य नहीं करते। इससे सिद्ध हुआ कि ऋषि सूर्य के तल के ताप पर पृथिवी पर विद्यमान मनुष्यादि आकृति वाले प्राणी की सत्ता नहीं मान सकते।

अब वेदभाष्य की चर्चा पर आते हैं। महर्षि जी ने इस मन्त्र के संस्कृत भाग में 'अजाश्वम्' पद का अर्थ 'अजाश्चाश्वाश्चास्मिँस्तम्' किया है और हिन्दी में 'जिसमें बकरी और घोड़े विद्यमान हैं' यह अर्थ किया है, जबकि इससे ठीक पूर्व वाले मन्त्र में भी 'अजाश्व' पद आया है, जिसका अर्थ संस्कृत भाग में 'अजोऽनुत्पन्नो विद्युदश्वो यस्य तत्सम्बुद्धौ' किया है और हिन्दी भाषा में 'अविनाशी बिजुलीरूप घोड़े वाले', यह अर्थ है। अब विचारें कि 'अजाश्व' दोनों मन्त्रों में लगभग समान है। पूर्व मन्त्र में 'अविनाशी बिजुलीरूप घोड़े वाले' अर्थ किया, तो अगले ही मन्त्र में बकरी व घोड़े नामक धरती के प्राणी कहाँ से आ गये?

जैसा कि कई आर्य विद्वान् मानते हैं कि वेदभाष्य में आर्य भाषा (हिन्दी) भाष्य महर्षि कृत नहीं है, बल्कि अन्य विद्वानों ने किया है, मैं इस मत से सहमत हूँ। वे विद्वान् कहीं-2 महर्षि के भाव को न समझ मिथ्या अर्थ कर गये हैं। जहाँ-2 महर्षि का संस्कृत भाष्य पूर्ण स्पष्ट नहीं हुआ अर्थात् शीघ्रतावश ऋषि यह विचार करके कि पूर्व प्रसंग में दिये अर्थानुसार भाषा लेखक स्वयं समझ लेगा, अपना भाष्य कुछ अस्पष्ट छोड़ गये, वहाँ भाषा लेखकों ने अपनी बुद्धि का ही आश्रय लेकर बिना पूर्व अर्थ को ध्यान में रखे मनमाना अर्थ कर डाला, जैसा कि ऊपर स्पष्ट है कि पूर्व मन्त्र में 'अजाश्व' पद का स्पष्टार्थ 'अजोऽनुत्पन्नो विद्युदश्वो यस्य तत्सम्बुद्धौ' किया, वहीं अगले मन्त्र में 'अजाश्वम्' का अर्थ 'अजाश्चाश्वाश्चास्मिँस्तम्' करके 'अज' व 'अश्व' दोनों ही पदों को यथावत् छोड़कर आगे बढ़ गये।

उन्होंने सोचा कि जब 'अजाश्व' पद का स्पष्ट अर्थ ऊपर है ही, तो भाषा लेखक स्वयं 'अज' व 'अश्व' पदों, जो क्रमशः विशेषण व विशेष्य हैं, का अर्थ पूर्व मन्त्र को देखकर कर ही लेगा, परन्तु भाषार्थ करने वाले ने ऊपर के मन्त्र के संस्कृत व स्वयं द्वारा किए गये भाषार्थ को भी देखने का प्रयास नहीं किया और 'बकरी' व 'घोड़े' इन पदों को 'अज' व 'अश्व' के अर्थ के रूप में थोंप दिया। हमें महर्षि के वेदभाष्य में दिये संस्कृत भाष्य को बहुत सावधानी से देखना चाहिए, तभी भाषार्थ ठीक हो पायेगा।

प्रश्न— आप महर्षि की मान्यता के समर्थन में स्टीफन हॉकिंग को प्रमाण मानकर समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं। ये हॉकिंग तो ईश्वर व पुनर्जन्म की मान्यता को नकार कर भौतिकी के नियमों के द्वारा ही सृष्टि उत्पत्ति व संचालन होना ही स्वीकार करते हैं। इस विषय में क्या आप हॉकिंग को

प्रमाण मानेंगे? यदि हाँ, तो आपके महर्षि व वेदादि शास्त्र मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे और यदि प्रमाण नहीं मानेंगे, तो कहीं प्रमाण मानना और कहीं न मानना, यह स्वार्थपरता ही कहलायेगी।

उत्तर— संसार में कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं होता। केवल परमात्मा ही पूर्ण होता है। इस कारण यह आवश्यक नहीं कि किसी व्यक्ति के सभी विचारों का पूर्ण समर्थन किया जाये वा पूर्ण विरोध किया जाये। हमें सत्य के ग्रहण व असत्य के त्याग में ही तत्पर रहना चाहिए। जो-2 विचार आपके आत्मा को उचित व सत्य प्रतीत हों, उनको स्वीकार करना और जो विपरीत प्रतीत हों, उनको अस्वीकार करना ही न्याय है। अन्धानुकरण किसी का भी उचित नहीं है। भौतिकी के नियमों द्वारा सृष्टि उत्पत्ति व संचालन की बात को महर्षि एवं उनके अनुयायी हम सभी स्वीकार ही करते हैं। हम इसके साथ एक कदम आगे बढ़कर यह और कहते हैं कि उन नियमों की नियामक एक चेतन सत्ता है, क्योंकि नियम न तो स्वयं बनते हैं और न वे स्वयं नियन्त्रण में रहते हैं।

हॉकिंग की पुस्तक 'द ग्राण्ड डिजाइन' को देखे बिना भारतीय मीडिया ने जिस नास्तिकता का पुरजोर प्रचार किया, वह मूर्खता वा षड्यन्त्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है। पाप का प्रचार जोर-शोर से होता है और सत्य-पुण्य का प्रचार नहीं होता है। भारतीय मीडिया, राजनीति व कथित बुद्धिवादी सभी चार्वाक मत में दीक्षित नास्तिक हो चुके हैं। हॉकिंग ने इस पुस्तक में बाइबिल के चमत्कारी ईश्वर के द्वारा बिना नियमों के अपनी इच्छा मात्र से मात्र 6 दिनों में सम्पूर्ण सृष्टि रच देने के चमत्कार तथा बाबा आदम आदि की मान्यताओं का खण्डन किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक में बाइबिल तथा बाबा आदम आदि नामोल्लेख-पूर्वक खण्डन किया है। अन्य देशों के दर्शनों पर भी कुछ संकेत किये

हैं, परन्तु कहीं भारतीय वैदिक अवधारणा की ओर कोई संकेत नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि या तो हिन्दुओं के बहुदेवतावाद में जकड़े हजारों मत-पन्थों के जाल को उन्होंने यह सोचकर अपने विचार में नहीं लाया हो कि हिन्दुओं के कैसे ईश्वर को मानकर अपने विचार लिखूँ अथवा वे भारतीय दर्शन के प्रति जानबूझकर उपेक्षा करते हों। वस्तुतः जब तक वैदिक ईश्वरवाद का संसार भर में प्रचार नहीं होगा, तब तक ईश्वरीय सत्ता एवं उसके साथ-2 कर्मफल व्यवस्था, पुनर्जन्म अवधारणा सभी का उपहास ऐसे ही होता रहेगा। दुर्भाग्य से आज तक कथित हिन्दू समाज स्वयं वैदिक विचारधारा को समझने का प्रयास नहीं कर रहा, तब हॉकिंग को दोष क्यों दें?

यदि हॉकिंग के पास वैदिक ईश्वरवाद को सुस्पष्टरूपेण प्रस्तुत किया गया होता और वे भी पूर्वाग्रह वा अहंकार से ग्रस्त न होते, तो ईश्वरादि मान्यताओं को नकारने का कोई भी कारण उन्हें नहीं मिलता। मैं तो उन्हें धन्यवाद ही दूँगा कि वे ईसाइयों के देश में रहकर भी बाइबिल का प्रबल खण्डन कर रहे हैं। भारत में भी वैज्ञानिकों को पुराण, जैन, बौद्ध, कुरान, बाइबिल आदि की अवैज्ञानिक मान्यताओं का खुला खण्डन करना चाहिए। तभी सत्य धर्म की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ेगी, परन्तु इसके लिए आर्य विद्वानों को अपना प्रमाद त्यागना होगा।

* * * * *

आक्षेप—

आचार्य जी को प्रणाम! मेरे पास गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा मुद्रित रामायण ग्रन्थ है, जिसमें कुछ अवैज्ञानिक बात है, जो इस प्रकार है—

एक शूद्र शंबूक को भगवान् राम द्वारा केवल इसलिए मार दिया गया था कि वह एक शूद्र होकर तपस्या कर रहा था।

—अमरदीप सिंह

उत्तर— आक्षेपकर्त्ता अमरदीप सिंह को मेरा परामर्श है कि वे मेरी पुस्तक 'जातिवाद और भगवान् मनु' को ध्यानपूर्वक पढ़ें, जो हमारी वेबसाइट[२] पर उपलब्ध है।

इन आक्षेपकर्त्ताओं के अतिरिक्त श्री जतिन अग्रवाल ने कुछ वेदमन्त्रों के भाष्यों एवं अनुवादों के कुछ उद्धरण भेजे हैं। ये भाष्य और अनुवाद नितान्त मूर्खतापूर्ण एवं अश्लील हैं। इनका उत्तर समझने के लिए हमारे उन उत्तरों को ध्यान से पढ़ें, जो हमने सुलेमान रजवी के आक्षेपों पर दिए हैं। वहीं वेदभाष्य की प्रक्रिया के विषय में भी वही पठनीय हैं। इससे आपके सभी प्रश्नों का समाधान हो सकेगा। मनुस्मृति के विषय में विभिन्न प्रकार के आक्षेपों का समाधान करने के लिए डॉ. सुरेन्द्र कुमार

[2] vaidicphysics.org

जी द्वारा किया गया मनुस्मृति का भाष्य पठनीय है। इसके लिए आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली द्वारा प्रकाशित मनुस्मृति एवं विशुद्ध मनुस्मृति नामक ग्रन्थ पठनीय हैं।

इन आक्षेपों के अतिरिक्त और भी आक्षेपों के उत्तर हमारे समाधानों में निहित हैं। इसके अतिरिक्त कुछ आक्षेप वास्तव में आक्षेप नहीं, बल्कि प्रश्न हैं तथा प्रश्न पूछने के लिए हमने प्रारम्भ में ही निषेध किया था। आक्षेपकर्त्ताओं के आक्षेपों के अतिरिक्त 'कुछ अन्य प्रश्न' शीर्षक से 11 आक्षेप मेरे स्वयं के थे।

मैं यह देखना चाहता था कि भारतभूमि पर क्या कोई ऐसा वैदिक विद्वान् है, जो ब्राह्मण ग्रन्थ, निरुक्त एवं वेदादि को अच्छी प्रकार समझता हो, परन्तु मुझे सबके मौन ने यही बता दिया कि आज किसी की वेदादि शास्त्रों के अध्ययन और अनुसन्धान में कोई रुचि और योग्यता नहीं है। इसलिए उन प्रश्नों के उत्तर मैं भी नहीं दे रहा हूँ, जिनको इनका उत्तर चाहिए, वे मेरे 'वेदविज्ञान-आलोक:' और 'वेदार्थ-विज्ञानम्' ग्रन्थ से पढ़ सकते हैं।

* * * * *

एक आक्षेप, जो ऋषि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य पर है, का उत्तर हम यहाँ अवश्य दे रहे हैं—

आक्षेप—

पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीन्त्स्थूलगुदया सर्पान् गुदाभिर्विह्रुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनꣳ शेपेन प्रजाꣳ रेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः ॥

[यजु.25.7]

इसका ऋषि दयानन्द का भाष्य स्पष्ट व्याख्या चाहता है। इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द का संस्कृत भाष्य कोई स्पष्ट करके दिखाए अथवा अपना भाष्य करके दिखाए। इसका हिन्दी अनुवाद नितान्त फूहड़पन का प्रतीक बन गया है।

उत्तर— यह भाष्य सहसा ही किसी भी विद्वान् को उलझन में डालने वाला है। इस विषय में मेरा मत यह है कि महर्षि दयानन्द के भाष्य का हिन्दी भाग उनका स्वयं का नहीं है, बल्कि उनके लेखक पण्डितों का बनाया हुआ है। इस मन्त्र का हिन्दी भाग देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कृत भाग के अनुसार ही है, परन्तु मैं इससे सहमत नहीं हूँ। वस्तुतः समयाभाव के कारण ऋषि अपने मन के अनुकूल भाष्य नहीं कर सके, किन्तु हिन्दी अनुवादकों से अपेक्षा थी कि वे उनके भावों को यथार्थ

रूप में समझकर पदार्थ लिखते, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। वेदार्थ एवं इस विषय में ऋषि की दृष्टि से अनभिज्ञ संस्कृत विद्वान् हिन्दी पदार्थ देखकर ऋषि भाष्य पर आक्षेप करते हैं। इस विषय में आर्यसमाज की सभाओं का दायित्व है कि समर्थ विद्वानों से इस समस्या का समाधान करवाने का प्रयास करें। जिस मन्त्र की ओर संकेत किया गया है, वह इस प्रकार है—

पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीन्त्स्थूलगुदया सर्पान् गुदाभिर्विह्रुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनꣳ शेपेन प्रजाꣳ रेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः ॥

इसका ऋषिकृत भाष्य इस प्रकार है—

पदार्थः — (पूषणम्) पुष्टिकरम् (वनिष्ठुना) याचनेन (अन्धाहीन्) अन्धान् सर्पान् (स्थूलगुदया) स्थूलया गुदया सह (सर्पान्) (गुदाभिः) (विह्रुतः) विशेषेण कुटिलान् (आन्त्रैः) उदरस्थैर्नाडीविशेषैः (अपः) जलानि (वस्तिना) नाभेरधोभागेन (वृषणम्) वीर्याधारम् (आण्डाभ्याम्) अण्डाकाराभ्यां वृषणावयवाभ्याम् (वाजिनम्) अश्वम् (शेपेन) लिङ्गेन (प्रजाम्) सन्ततिम् (रेतसा) वीर्येण (चाषान्) भक्षणानि (पित्तेन) (प्रदरान्) उदरावयवान् (पायुना) एतदिन्द्रियेण (कूश्मान्) शासनानि। अत्र कशधातोर्मक्प्रत्ययोऽन्येषामपीति दीर्घश्च (शकपिण्डैः) शक्तेः संघातैः।

भावार्थः — येन येन यद्यत्कार्यं सिध्येत्तेन तेनाङ्गेन पदार्थेन वा तत्तत्साध-नीयम्।

उपलब्ध हिन्दी अनुवाद—

पदार्थ— हे मनुष्यो! तुम (वनिष्ठुना) मांगने से (पूषणम्) पुष्टि करने वाले को (स्थूलगुदया) स्थूल गुदेन्द्रिय के साथ वर्त्तमान (अन्धाहीन्) अन्धे साँपों को (गुदाभिः) गुदेन्द्रियों के साथ वर्त्तमान (विह्रुतः) विशेष कुटिल (सर्पान्) सर्पों को (आन्त्रैः) आंतों से (अपः) जलों को (वस्तिना) नाभि के नीचे के भाग से (वृषणम्) अण्डकोष को (आण्डाभ्याम्) आंडों से (वाजिनम्) घोड़ा को (शेपेन) लिङ्ग और (रेतसा) वीर्य से (प्रजाम्) सन्तान को (पित्तेन) पित्त से (चाषान्) भोजनों को (प्रदरान्) पेट के अंगों को (पायुना) गुदेन्द्रिय से और (शकपिण्डैः) शक्तियों से (कूश्मान्) शिखावटों को निरन्तर लेओ।

भावार्थ— जिस जिस से जो जो काम सिद्ध हो, उस उस अङ्ग वा पदार्थ से वह वह काम सिद्ध करना चाहिये।

निश्चित ही यह हिन्दी पदार्थ उपयुक्त व स्पष्ट नहीं है। मैं ऋषि के भाष्य का हिन्दी में व्याख्यान करता हूँ—

हे मनुष्यो! (वनिष्ठुना) याचन अर्थात् ग्रहण करने की इच्छा तथा नष्ट करने की प्रवृत्ति, [याचृ वधकर्मा - निघं.2.19] इन दोनों ही प्रकार के कर्मों से (पूषणम्) पुष्टिकरण की क्रिया सम्यक् प्रकार से होती है। ध्यातव्य है कि शरीर एवं ब्रह्माण्ड दोनों में संयोग व वियोग किंवा सृजन वा विनाश दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ साथ-2 चलती हैं। इनमें से एक के अभाव में ही सृष्टि प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी। यहाँ महर्षि के 'याचनेन' पद के दोनों अर्थ ग्रहण करने चाहिए। यहाँ कोई 'याचनेन' पद से दोनों अर्थों का ग्रहण न करे, तो उसे 'वनिष्ठुना' पद 'वनु याचने' तथा 'वनु संभक्तौ' इन दोनों धातुओं से व्युत्पन्न मानना चाहिए। तब भी यहाँ ये दोनों अर्थ निकलते हैं।

(स्थूलगुदया) स्थूल गुदा किंवा पुच्छभाग के द्वारा (अन्धाहीन्) अन्धे सर्प अपनी क्रियाओं को करने में समर्थ होते हैं। हम अन्तर्जाल से जान सकते हैं कि जो साँप अन्धे होते हैं, उनकी पूँछ मुख के समान मोटी होती है, वहीं गुदा भी होती है। उसी स्थूल गुदा से ही वह साँप अण्डा देता है। इसी कारण गुदा स्थूल होती है। ब्राह्मिनी ब्लाइंड स्नेक केवल मादा ही होती है। इनमें नर नहीं देखा गया है। इस कारण यह स्वयं ही बिना किसी नर के संयोग के गुदा से अण्डे देती है। इसी कारण कहा है कि स्थूल गुदा द्वारा अन्धे सर्प अपने कर्मों को करने में समर्थ होते हैं।

(गुदाभिः) गुदा वा पुच्छभाग के द्वारा (विह्रुतः) विशेष रूप से टेढ़े-मेढ़े गति करने वाले सर्प अपनी गत्यादि क्रियाओं को सम्यग्रूपेण करने में समर्थ होते हैं। यहाँ 'विह्रुतः' शब्द से शाकल साँप का ग्रहण किया जा सकता है। यह सर्प अपनी पूँछ वा गुदा भाग को मुख में दबाकर गोल घेरे के समान आकृति धारण करके पहिये के समान गति करता है। इस सर्प को अंग्रेजी भाषा में हूप स्नेक कहते हैं। इस प्रकार के सर्प के विषय में वैज्ञानिकों को शंका है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी एक स्थान पर इस प्रकार के सर्प की चर्चा है। आचार्य सायण ने भी अपने ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में इस सर्प की चर्चा की है। सम्भव है कि यह प्रजाति अब विलुप्त हो गयी हो। कई सर्प पूँछ को हिलाकर अपने शिकार को आकर्षित करके उन्हें पकड़ लेते हैं। यहाँ भी गुदा वा पूँछ की भूमिका है, लेकिन यहाँ गति के स्थान पर शिकार करने में भूमिका है। इस कारण गुदा के द्वारा इनके क्रियाशील रहने वा सम्यक् क्रिया करने की चर्चा की गयी है।

(सर्पान्) अन्य प्रकार के साँप (आन्त्रैः) उदरस्थ नाड़ी [अमति जानाति प्राप्नोति येन तत् अन्त्रम् (उ.को.4.165)] अर्थात् अपने शरीर के ऊपर उभरे शल्कों के द्वारा ही गति करते हैं किंवा उसके शरीर में पाई जाने

वाली हजारों मांसपेशियों रूपी नाड़ियों के द्वारा ही वह अपने सभी कर्मों को करने में समर्थ होता है।

(अपः) किसी भी प्राणी के शरीर का एक महत्त्वपूर्ण एवं सबसे बड़ा घटक जल (वस्तिना) नाभि के निचले भाग में स्थित अंगों, विशेषकर मूत्र उत्सर्जन तन्त्र के द्वारा ही शरीर में सम्यक् क्रियाएँ कर पाता है। आयुर्विज्ञानी इस पर विशेष विचार कर सकते हैं कि बहुमूत्र वा मूत्रकृच्छ्र रोग में शरीर में विद्यमान जल अपने कर्मों को सम्यक् रूप से कर पाने में कैसे असमर्थ होता है।

(वृषणम्) नर प्राणी के अण्डकोश (आण्डाभ्याम्) अपने अवयव रूप अण्डों के सम्यक् क्रियाशील व बलवान् रहने पर ही शुक्र निर्माणादि कर्मों को सम्यक् प्रकार से करने में समर्थ हो सकते हैं। उनमें दोष उपस्थित होने पर सम्पूर्ण अण्डकोश का कार्य सर्वथा बन्द हो जाता है।

(वाजिनम्) घोड़े, बैल आदि बलवान् पशु (शेपेन) अपने लिंग के द्वारा विशेष बल व गति से युक्त होते हैं। जिन घोड़ों को नपुंसक बना दिया जाता है, उनके बल व गति दोनों ही हीन हो जाते हैं। उनकी क्रियाशीलता में न्यूनता आ जाती है। यही अंग उनके बल-पौरुष का मुख्य आधार वा साधन है। इसी कारण इस अंग की चर्चा की गयी है।

(प्रजाम्) विभिन्न प्राणियों की सन्तान (रेतसा) अपने पिता व माता के रेतः अर्थात् शुक्र व रज के समर्थ होने पर ही सामर्थ्यवती होती है। शुक्र व रज के संयोग के बिना प्रजा का उत्पन्न होना ही असम्भव है और उनके निर्बल होने पर सन्तान भी निर्बल ही होगी।

(चाषान्) विभिन्न खाद्य पदार्थ (पित्तेन) आहारनाल में मिलने वाले पित्त आदि विभिन्न पाचक रसों के द्वारा ही अपना प्रभाव सम्यक् रूप से दर्शा

सकते हैं। इसका तात्पर्य है कि इन पाचक रसों के अभाव में खाद्य पदार्थ न केवल शरीर को पोषक तत्त्वों से वंचित करते हैं, अपितु उस प्राणी को रोगी भी बना देते हैं।

(प्रदरान्) शरीर के अन्दर, विशेषकर उदर में विद्यमान विभिन्न अवयव (पायुना) गुदा-इन्द्रिय के सम्यक् कार्यशील रहने पर ही अपने-अपने कार्य सम्यग्रूपेण करने में सक्षम होते हैं। जब मनुष्य व अन्य किसी भी प्राणी को कोष्ठबद्धता, अतिसार किंवा अर्श-भगन्दर जैसा कोई रोग हो जाये, तब उस मनुष्य के पाचन तन्त्र के अन्य अवयव यथा आमाशय, गृहणी, दोनों प्रकार की आँतें, यकृत्, प्लीहा व अग्नाशयादि अंग भी प्रभावित होते हैं अर्थात् वे भी सम्यग्रूपेण अपने-2 कार्य नहीं कर पाते हैं।

(कूश्मान्) मस्तिष्क एवं इससे संचालित सभी अंग-प्रत्यंगों की नियन्त्रण व संचालन क्षमता (शकपिण्डैः) मस्तिष्क एवं उससे संचालित अंग-प्रत्यंगों की शक्ति के सम्यक् संतुलन के द्वारा ही सम्यग्रूपेण कार्य कर पाती है।

इस मन्त्र में इसी अध्याय के प्रथम मन्त्र से 'स्वाहा' पद की अनुवृत्ति समझनी चाहिए। इसी से हमने सम्यक् क्रिया करने का भाव ग्रहण किया है।

भावार्थ— हे मनुष्यो! सृष्टि में संयोग-वियोग के गुण के द्वारा विभिन्न क्रियाओं व पदार्थों की रक्षा व पालन, अन्धे साँपों का पुच्छ वा गुदा भाग से अंडे देना वा इसके सहयोग से शाकल साँप का चलना, सभी साँपों का मांसपेशियों के द्वारा होने वाले कर्मों को करना, शरीर में मूत्र विसर्जन की सम्यक् क्रिया के द्वारा शरीर में जल का सम्यक् कार्यशील रहना,

अण्डकोशों में अवयवभूत अण्डों के स्वस्थ होने पर ही अण्डकोशों का समर्थ होना, पौरुष शक्ति सम्पन्न घोड़े आदि बलवान् प्राणी का बलवान् रह पाना, शुक्र व रज की शुद्धता व स्वास्थ्य से ही स्वस्थ प्रजा का उत्पन्न होना, पित्त आदि पाचक रसों के द्वारा भोजन का पचना, मलादि विसर्जन की सम्यक् क्रिया के द्वारा शरीरांगों का स्वस्थ रह पाना एवं मस्तिष्कगत स्नायुओं के स्वस्थ व सबल रहने पर ही शरीर में अन्य अंगों का सम्यक् नियन्त्रण व संचालन आदि कर्म होते हैं, ऐसा तुम लोग जानो।

आधिदैविक भाष्य—

[प्रजापतिः = प्राणो हि प्रजापतिः (श.ब्रा.4.5.5.13), प्रजापतिर्ह्यात्मा (श.ब्रा.6.2.2.12), सर्वाणि छन्दांसि प्रजापतिः (श.ब्रा.6.2.1.10)। पूषा = पुष्टिर्वै पूषा (तै.ब्रा.2.7.2.1), असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.5.2), अन्नं वै पूषा (कौ.12.8), पशवो वै पूषा (श.ब्रा.13.1.8.6), इयं पृथिवी वै पूषा (मै.सं.2.5.5)]

इस ऋचा का ऋषि प्रजापति है। इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सभी प्रकार की अन्य छन्द रश्मियों में कार्यरत प्राण व सूत्रात्मा वायु के मेल से होती है। इसका देवता पूषा होने से इसके दैवत प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित व अप्रकाशित कणों एवं विभिन्न छन्द रश्मियों के पारस्परिक संयोग की प्रक्रिया पृथिवी एवं सूर्य्यादि लोकों के अन्दर समृद्ध होती है।

इसका छन्द निचृदष्टि होने से इसके छान्दस प्रभाव से सभी क्रियाएँ तीक्ष्ण एवं व्यापक होती हैं। इसका स्वर मध्यम होने से यह छन्द रश्मि विभिन्न लोकों के मध्य वर्तमान होकर विभिन्न छन्द रश्मियों व कणों के मध्य क्रियाशील रहती है।

(पूषणम्) सृष्टि की प्रत्येक पालन, रक्षण आदि क्रियाएँ (वनिष्ठुना) संयोग-वियोग किंवा आकर्षण, प्रतिकर्षण, विस्फोटक एवं विभाजक आदि बलों के द्वारा समृद्ध होती हैं। [वन संभक्तौ, वनु याचने, याचृ वधकर्मा (निघं.2.19)]

(अन्धाहीन्) [अन्धः = अन्ननाम (निघं.2.7), अन्नं वा अन्धः (जै.ब्रा. 1.3.3), अन्धो रात्रिः (तां.ब्रा.9.1.7), अहर्व्वा अन्धः (तां.ब्रा.12.3.3; जै.ब्रा.1.116)। अहिः = द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.3.30)] विभिन्न संयोज्य प्रकाशित व अप्रकाशित कण (स्थूलगुदया) [गुदा = प्राणो वै गुदः (श.ब्रा.3.8.4.3) यहाँ 'गुदः' पद को 'गुदा' रूप में लिखना छान्दस प्रयोग है।] व्यापक रूप से फैले हुए विभिन्न प्राणों के द्वारा अपनी विभिन्न क्रियाओं को सम्यक् रूप से कर पाते हैं।

(सर्पान्) [सर्पाः = इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च (श.ब्रा.7.4.1.25) (छन्दांसि वै सर्वे लोकाः -जै.ब्रा.1.332), देवा वै सर्पाः (तै.ब्रा.2.2.2.6)] सभी प्रकार की छन्द रश्मियाँ एवं दृश्य कण वा तरंगें (गुदाभिः) विभिन्न प्राण रश्मियों के द्वारा अपनी क्रियाओं को करने में समर्थ होती हैं।

(विह्रुतः) विशेष रूप से कुटिल चाल चलने वाले सभी प्रकार के लोक एवं कण (आन्त्रैः) विभिन्न प्रकार की छन्द व प्राण रश्मियों के द्वारा निर्मित मार्गों पर उन्हीं रश्मियों के द्वारा प्रेरित होकर सम्यग्रूपेण सुरक्षित गमन करते हैं।

(अपः) विभिन्न तन्मात्राएँ एवं प्राणादि रश्मियाँ (वस्तिना) [वस्त आच्छादयति सा वस्तिः (उ.को.4.181)] सूत्रात्मा एवं बृहती छन्द आदि रश्मियों के द्वारा सम्यक् स्वरूप को प्राप्त करके अपनी नाना क्रियाओं

को सम्यग्रूपेण सम्पन्न करती हैं।

(वृषणम्) विभिन्न वृषा अर्थात् पुरुष रूप में कार्य करने वाली रश्मियाँ किंवा कण अपने अन्दर व्याप्त (आण्डाभ्याम्) रेतः सेचन में समर्थ अर्थात् तेजोरूप प्राण व अपान किंवा प्राणादि रश्मियों के द्वारा ही अपने संयोगादि कर्मों को करने में समर्थ होती हैं।

(वाजिनम्) [छन्दांसि वै वाजिनः (गो.उ.1.20), इन्द्रो वै वाजी (ऐ.ब्रा. 3.18)] वेगवान् एवं बलवान् विद्युत् एवं विभिन्न कण वा छन्द रश्मियाँ (शेपेन) [शेपः = ग्रावा शेपः (तै.सं.7.5.25.2)। ग्रावा = प्राणा वै ग्रावाणः (श.ब्रा.14.2.2.33), बार्हता वै ग्रावाणः (श.ब्रा.12.8.2.14), जागता वै ग्रावाणः (कौ.ब्रा.29.1)। शेपः = शपते स्पृशतिकर्मणः (निरु. 3.21)] स्वयं को स्पर्श करने वाली प्राण एवं बृहती आदि छन्द रश्मियों के द्वारा अपने कार्यों को करने में समर्थ होती हैं। इसके साथ ही शुनःशेप नामक रश्मियों के द्वारा सूर्य्यलोक का केन्द्रीय भाग समृद्ध होता है। (प्रजाम्) विभिन्न उत्पन्न रश्मि वा कण आदि पदार्थ (रेतसा) उनको उत्पन्न करने वाली विभिन्न रश्मियों के द्वारा क्रियाशील होते हैं।

(चाषान्) अवशोषित होने वाले कण वा रश्मि आदि पदार्थ (पित्तेन) [पित्तम् = तेजः (म.द.य.भा.1.7.6)] उसे तेज वा बल प्रदान करने वाली रश्मियों के द्वारा ही अपनी क्रियाओं को सम्पादित कर पाती हैं।

(प्रदरान्) [प्रदरान् = प्र+दॄ विदारणे, उदरावयवान् (म.द.भा.)] अवकाशरूप आकाश में स्थित विभिन्न पदार्थ (पायुना) [पायुः = अन्तरिक्षं पायुः (तै.सं.7.5.25.2)] आकाश तत्त्व के द्वारा आवृत्त रहकर उसके ही द्वारा नाना बलों को प्रदर्शित व अनुभव कर पाते हैं।

(कूश्मान्) इस सृष्टि के विभिन्न पदार्थों में नियन्त्रण की क्रियाएँ

(शकपिण्डैः) [शक उदकनाम (निघं.1.12)] अपने सिंचन रूपी कर्म के द्वारा उत्पन्न संघनित कणों (मीडियेटर पार्टिकल्स) के द्वारा ही संचालित होती हैं। ध्यातव्य है कि यहाँ प्रथम मन्त्र से 'स्वाहा' पद की अनुवृत्ति है।

भावार्थ— इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार के पदार्थ अपने पृथक्-2 कर्मों को पृथक्-2 कणों वा रश्मि आदि पदार्थों के सहयोग से ही करने में समर्थ होते हैं। विद्वानों को इन सब क्रियाओं और पदार्थों को जानना चाहिए।

ऋचा का सृष्टि पर प्रभाव— इस छन्द रश्मि का सृष्टि पर व्यापक प्रभाव होता है। इसके प्रभाव से विभिन्न कणों व रश्मियों के मध्य कार्यरत विभिन्न प्रकार के बलों, गतियों, सुरक्षित मार्गों, नाना उत्पादन कर्मों, सतत क्रियाशीलता आदि के लिए नाना प्रकार के कण, प्राण व छन्दादि रश्मियाँ एवं आकाश आदि तत्त्व सक्रिय होते हैं। यह रश्मि पूर्व से हो रहे नाना कर्मों को अच्छी प्रकार सम्पन्न करने में व्यापक सहयोग करती है।

आध्यात्मिक भाष्य—

(पूषणम्) योगसाधक सबके पालन, पोषण व रक्षण के मुख्य हेतु परमात्मा को (वनिष्ठुना) पुरुषार्थपूर्वक प्रार्थना एवं अपने समस्त दुर्गुण-दुर्व्यसनों को नष्ट करके ही प्राप्त करने में समर्थ हो पाता है।

(अन्धाहीन्) [अहिः = समस्तविद्यासु व्यापनशीलः (ईश्वरः) (म.द.य. भा.5.23)] अन्ध अर्थात् अन्न रूप किंवा जीवों के द्वारा सदैव नमन करने योग्य अहिरूप अर्थात् समस्त विद्याओं से समृद्ध परमेश्वर (स्थूलगुदया) शरीर व सृष्टि में व्याप्त प्राणापानोदान आदि के सम्यक् नियन्त्रण अर्थात् प्राणायामादि तप के द्वारा परिपक्व योगसाधना द्वारा प्राप्त

करने में सुगम होता है।

(सर्पान्) ब्रह्माण्ड में व्याप्त विभिन्न गायत्र्यादि छन्द रश्मियों को भी (गुदाभिः) प्राणों पर नियन्त्रणपूर्वक योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

(विह्रुतः) विभिन्न प्रकार के कुटिल मार्गों एवं अविद्यादि क्लेशों को (आन्त्रैः) वेदविद्या किंवा वेदविद्या के मूल उपदेष्टा परमपिता परमात्मा अथवा योगविद्या में निष्णात आचार्य के प्रति समर्पण व सम्मान के द्वारा विनष्ट किया जा सकता है।

(अपः) विभिन्न प्रकार के उत्तम गुणों एवं कर्मों को (वस्तिना) नाभि के अधोभागस्थ उपस्थेन्द्रिय के पूर्ण संयम एवं तप व स्वाध्याय से प्राप्त सद्गुणों के आच्छादन के द्वारा सम्यग्रूपेण प्राप्त किया जा सकता है।

(वृषणम्) सब सुखों की वर्षा करने वाला परमेश्वर (आण्डाभ्याम्) [अण्डः = अमन्ति संप्रयोगं प्राप्नुवन्ति येन सः अण्डः (उ.को.1.114)] सकल ब्रह्माण्ड एवं शरीररूपी पिण्ड के सम्यक् विज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है।

(वाजिनम्) विभिन्न बल एवं गतियों का मूल कारण परमेश्वर (शेपेन) विविध सांसारिक विषयों को सतत स्पर्श करने के स्वभाव से युक्त विभिन्न इन्द्रियों व मन के निग्रह के द्वारा प्राप्त होता है।

(प्रजाम्) [प्रजानाम् = सर्वेषां व्यवहाराणाम् (म.द.य.भा.34.5)] योग-साधना आदि विभिन्न मोक्षसाधक व्यवहार (रेतसा) [रेतः = वाग् रेतः (श.ब्रा.1.7.2.21), वागु हि रेतः (श.ब्रा.1.5.2.7)] वाग् अर्थात् प्रणव के जप एवं ध्यान आदि के द्वारा सम्यग्रूपेण सिद्ध होते हैं।

(चाषान्) भक्षणीय अर्थात् विनष्ट करने योग्य काम, क्रोध, लोभ आदि आन्तरिक शत्रु किंवा सेवनीय ब्रह्मानन्द रस (पित्तेन) ब्रह्मवर्चस् रूपी तेज के द्वारा क्रमशः नष्ट किंवा प्राप्त होते हैं।

(प्रदरान्) [उदरꣳ सदः (मै.सं.3.8.8; क.सं.40.3)] परमेश्वर के आनन्द धाम (पायुना) विभिन्न दोषों से रक्षा करने वाले गायत्री जप एवं उपासनादि कर्मों के द्वारा प्राप्त होते हैं।

(कूश्मान्) मन-इन्द्रियादि पर नियन्त्रण (शकपिण्डैः) ईश्वरोपासनादि से प्राप्त सामर्थ्यों के द्वारा सम्यग्रूपेण स्थापित हो सकता है।

भावार्थ— प्रत्येक योगसाधक को चाहिए कि वह योग के विभिन्न अंगों की साधना करके अपने अविद्यादि क्लेशों एवं काम, क्रोधादि शत्रुओं को जीतकर अपनी योगसाधना को परिपुष्ट करे। ऐसा योगी ब्रह्माण्डस्थ वेद की ऋचाओं को सुगमता से ग्रहण करने के साथ-2 ब्रह्म साक्षात्कार करके निर्भ्रान्त एवं सम्पूर्ण विज्ञान से युक्त होकर ब्रह्मानन्द धाम को प्राप्त होता है।

विशेष ज्ञातव्य— यजुर्वेद के इस सम्पूर्ण अध्याय में कोई एक विषय नहीं है। अनेक प्रकार के देवता होने से विषय भी अनेक हैं। इस कारण सम्पूर्ण सूक्त की पूर्ण संगति सम्भव नहीं है। ईश्वर विषयक मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य मन्त्रों के भाष्य का हिन्दी भाषा में पदार्थ अस्पष्ट व अनुपयुक्त प्रतीत होता है। मैं इस अध्याय का अन्य द्विविध भाष्य स्वयं भी कर सकता हूँ। रही बात ऋषिकृत भाष्य को स्पष्ट, उपयुक्त व बुद्धिगम्य हिन्दी भाषा में व्याख्यात करने की, तो वह भी सम्भव है। इसके लिए समय एवं श्रम दोनों अपेक्षित हैं और मैं अपने

कार्य में व्यस्त हूँ। मैंने नमूने के लिए एक मन्त्र के ऋषिकृत भाष्य को हिन्दी में व्याख्यात किया है। शेष मन्त्रों को अन्य वरिष्ठ वैदिक विद्वानों के लिए छोड़ता हूँ।

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

अन्त में मैं वेद पर लेखनी उठाने वालों को सावधान करना चाहूँगा कि केवल संस्कृत व्याकरण अथवा शब्दकोषों के आधार पर वेदार्थ करना सम्भव नहीं है। इसके लिए निरुक्त, विविध ब्राह्मण ग्रन्थ, वेद की विभिन्न शाखाओं, आरण्यक, आश्वलायनादि श्रौतसूत्र एवं छन्दशास्त्र के विस्तृत अध्ययन के साथ-2 ईश्वरप्रदत्त उच्च कोटि की ऊहा व तर्क, शुद्ध अन्तःकरण एवं ईश्वर की निष्काम व यथार्थ उपासना अनिवार्यतः अपेक्षित है।

मैं वेद अथवा इसके ऋषि दयानन्द कृत भाष्य पर मिथ्या व्यंग्य करने वाले इस्लामी बन्धुओं से कहना चाहूँगा कि काँच के घर में बैठकर वेदरूपी सुदृढ़ महल पर पत्थर फेंकना बुद्धिमानी नहीं है। मैंने कुरान के तीन संस्करणों को पढ़ा है। आप भी अच्छी प्रकार बुद्धिपूर्वक पढ़ लीजिये। यह बात स्मरणीय है कि हम सब हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि बाद में हैं, पहले सभी मानव हैं। हम सबको मिलकर एक सत्य धर्म की खोज करने का प्रयास करना चाहिए। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के आदि में ही मिलता है, न कि अब से एक-दो हजार वर्ष पूर्व। आप कृपया अपने मजहब की जड़ को पहचानने का प्रयास करें। तदुपरान्त ही वेद पर अंगुली उठाएँ।

हम तो वेद के आधार पर वर्तमान भौतिकी की गम्भीर व अनसुलझी समस्याओं का समाधान करने की क्षमता रखते हैं, क्या सम्पूर्ण इस्लामी जगत् में ऐसा कोई कुरान का जानकार है, जो कुरान के आधार पर ऐसा दावा कर सकता हो? आएँ, हम सब एक परमात्मा की सन्तान बनने का

प्रयास करके मानव एकता का मार्ग अपनायें, न कि विघटनकारी प्रयासों से मानवता को आहत करें।

यहाँ हमने 30 आक्षेपों का उत्तर दिया है, इनको पढ़कर ही पाठकों को यह बोध हो जाएगा कि वेदादि शास्त्रों को पढ़ने में, उनका भाष्य और अनुवाद आदि करने में अब तक क्या-क्या भूलें होती रही हैं? यदि ये भूलें नहीं होतीं, तो इन शास्त्रों पर कोई भी आक्षेप नहीं कर पाता। हमने इन सभी आक्षेपों का उत्तर सरल और संक्षिप्त ही दिया है। हमने इतना ही प्रयास किया है कि आक्षेपकर्त्ता के मात्र आक्षेप ही दूर हो सकें।

अब हमें जितना समय मिलेगा, हम वेद के क्लिष्ट सूक्तों का भाष्य करने का प्रयास करेंगे। इस कारण इस प्रकरण को यहीं विराम दे रहे हैं। ईश्वर सभी पाठकों को सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग करने की प्रज्ञा प्रदान करे।

* * * * *

वेद-रक्षार्थ मार्मिक निवेदन

वैदिक सनातन विचारधारा विश्व की सर्वश्रेष्ठ, सनातन एवं सर्वहित-कारिणी विचारधारा है। सृष्टि के आदि से लेकर महाभारत काल पर्यन्त वैदिक सत्य सनातन धर्म संसार के मनुष्यों का एकमात्र धर्म रहा। महर्षि ब्रह्मा, भगवान् मनु, महाराजा इक्ष्वाकु, महाराजा हरिश्चन्द्र, भगवान् शिव, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, महर्षि परशुराम, महर्षि वसिष्ठ, महर्षि अगस्त्य, महर्षि भरद्वाज, महर्षि विश्वामित्र, महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, महावीर हनुमान, महर्षि पतञ्जलि, महर्षि ऐतरेय महीदास, कणाद, कपिल जैसे दिव्य पुरुषों, भगवती उमा, देवी सीता, सती अनसूया, देवी लोपामुद्रा, देवी रुक्मिणी, गार्गी, अपाला जैसी महिमामयी नारियाँ इस वैदिक धर्म की ही देन हैं। वेद प्रतिपादित धर्म (भौतिक व पदार्थ विज्ञान) के कारण सम्पूर्ण आर्य्यावर्त सम्पूर्ण विश्व में सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित था। सम्पूर्ण विश्व भी सुखी, सम्पन्न एवं आध्यात्मिक उन्नति से परिपूर्ण था। भगवान् श्रीराम का राज्य, जहाँ किसी प्राणी को किसी प्रकार का कोई दु:ख नहीं था, आज तक संसारभर में विख्यात है।

क्या आप जानते हैं कि इस सबका कारण क्या था? इसका उत्तर वर्तमान काल में केवल ऋषि दयानन्द सरस्वती ने दिया और कहा कि भूमण्डल की सम्पूर्ण उन्नति एवं ज्ञान-विज्ञान व तकनीक की पराकाष्ठा का मूल कारण था— वेद। सभी मनुष्य वेदों के विद्वान् एवं तदनुसार आचरणवान् होते थे। सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान-विज्ञान का विस्तार आर्य्यावर्त से ही हुआ। दुर्भाग्य से महाभारत काल से पूर्व ही आर्य्यावर्त के साथ-साथ विश्व में मनुष्यों के सत्त्वगुण का ह्रास होते जाने के कारण वेदविद्या

का भी अत्यधिक ह्रास होने लगा। इस कारण वैदिक सनातन धर्म विद्रूप हो गया। इसके नाम पर पशुबलि, नरबलि, मांसाहार, रंगभेद, छुआछूत, मदिरापान, अश्लीलता आदि पापों का प्रचलन हो गया। इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि मतों का प्रादुर्भाव हुआ। चार्वाक मत नितान्त भोगवादी था, परन्तु जैन व बौद्ध मतों के प्रवर्तक पवित्रात्मा होने के कारण सदाचार के पथिक बने, लेकिन महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध मत वैदिक धर्म का प्रबल विरोधी एवं वैदिक साहित्य का विध्वंसक बन गया।

ऐसे अन्धकार भरे काल में कुमारिल भट्ट एवं आद्य शंकराचार्य जैसे महापुरुषों ने वैदिक सनातन धर्म को आर्य्यावर्त में पुनः प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया, परन्तु आचार्य शंकर की महती प्रज्ञा से घबराकर वेदविरोधियों ने छल से उन्हें विष दे दिया और इस अद्भुत प्रत्युत्पन्नमति सम्पन्न शास्त्रार्थ समर के योद्धा को भारतभूमि से विदा कर दिया। इनके जाने के पश्चात् इनके अनुयायी भी इनके मन्तव्यों को अच्छी प्रकार समझ नहीं पाये और स्वयं को ब्रह्म मानकर कमण्डलु लेकर मिथ्या वैरागी भिक्षोपजीवी बनकर रह गये। उधर बौद्ध व जैन मतों के द्वारा अहिंसा की मिथ्या परिभाषा के प्रचार से क्षत्रिय भी क्षात्रधर्म भूलकर कायर वा शस्त्रास्त्र-विहीन बन गये।

उधर विश्व के अन्य देशों में पारसी, यहूदी, ईसाई व इस्लाम आदि मत भी प्रचलित होने से सम्पूर्ण विश्व में नाना पापों, दुःखों, अशान्ति व अराजकता का ताण्डव होने लगा। ऐसे दुष्काल में गुरु नानकदेव, संत कबीर, संत रविदास, संत ज्ञानेश्वर आदि ने अपने-अपने स्तर पर समाज को दिशा देने का प्रयास किया, परन्तु वेदविद्या का पूर्ण प्रकाश न होने से

ये सभी महापुरुष काल की क्रूर गति को रोक नहीं पाये, बल्कि नये-नये सम्प्रदाय और उत्पन्न हो गये। वेद का नाम लेने वाले कथित ब्राह्मणों ने अन्य वर्णों एवं महिलाओं को वेद पढ़ने से ही वंचित कर दिया और स्वयं भी वेद के नाम पर मात्र कर्मकाण्डोपजीवी होकर रह गये। पशुबलि, नरबलि, मांसाहार, मदिरा सेवन, छुआछूत, नारी शोषण, बाल विवाह, जैसे पाप वैदिक कर्मकाण्ड के नाम पर प्रचलित थे। उधर देश के क्षत्रिय राजा मूर्तिपूजा व फलित ज्योतिष के भ्रमजाल में फँसकर तथा पारस्परिक फूट के कारण विदेशी आक्रान्ताओं से पराजित होने लगे और विदेशी लुटेरे हमारे घर में शासक बन गये। उन्होंने हमारा धन लूटा, हमारे साहित्य को जलाया, तो अंग्रेज उसे लूटकर वा चुराकर अपने देश ले गये। इस प्रकार संसार में हमारा शिरोमणि देश दीन-हीन हो गया। ऐसे समय में इस भारतभूमि में ऋषि दयानन्द जैसे दिव्य पुरुष ने जन्म लिया। उन्होंने वेदविद्या को भुला देना ही, अपने देश के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के अधःपतन का कारण माना।

इस कारण उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति का बिगुल बजाने का संकल्प लिया। स्वराज्य का प्रथम उद्घोष किया, सामाजिक दुरितों के विरुद्ध शंखनाद किया, परन्तु उनके सब कार्यों में से सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था— वेदोद्धार करना। उन्होंने मध्यकालीन वेदभाष्यकारों के भाष्यों के दोषों को दर्शाते हुए वेद की यथार्थ भाष्य शैली, जो वेद के वेदत्व का संकेत दे सकती थी, को संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया। दुर्भाग्यवश ऋषि दयानन्द का जीवन बहुत छोटा रहा, विधर्मियों ने उन्हें भी संसार से विदा कर दिया। इस कारण उनका वेदभाष्य बहुत ही संक्षिप्त व सांकेतिक रह गया।

यही कारण था कि उनके अनुयायी आर्य विद्वान् भी उसे पूर्णतः नहीं समझ पाये और जो शेष वेद का भाष्य इन विद्वानों ने किया, उसमें भी अनेकत्र वही दोष आ गये, जो सायण, महीधर, स्कन्दस्वामी आदि के भाष्यों में विद्यमान थे। आर्यसमाज ने इस देश में स्वाधीनता संग्राम के साथ समाज सुधार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। किसी भी संस्था-संगठन वा सम्प्रदाय से अधिक बलिदान आर्यसमाज ने दिये, परन्तु वेद के अपौरुषेयत्व तथा सर्वविज्ञानमयत्व की सिद्धि की दिशा में विगत डेढ़ सौ वर्ष में भी आर्यसमाज कोई कार्य नहीं कर पाया। आर्यसमाज सदैव शास्त्रार्थ-समर का एकछत्र विजेता भी रहा, परन्तु वेद के यथार्थ विज्ञान के बिना यह विजय अधूरी है।

आज परमपिता परमात्मा ने पूज्य आचार्य अग्निव्रत के रूप में हमें पुनः एक अवसर दिया है। भीनमाल, राजस्थान से 10 कि.मी. दूर एक छोटे से ग्राम में रहकर आचार्य श्री वेदों का वास्तविक स्वरूप संसार के समक्ष रखने का प्रयास कर रहे हैं। इस प्रयास में पहले आपने ऋग्वेद को समझाने वाले उसके ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण, जिसे लगभग सात हजार साल पुराना माना जाता है, का वैज्ञानिक (वस्तुतः वास्तविक) भाष्य वेदविज्ञान-आलोकः (लगभग 2800 पृष्ठ) के रूप में विश्व में पहली बार किया है। यह ग्रन्थ सृष्टि विज्ञान के ऐसे अत्यन्त गम्भीर व अनसुलझे रहस्यों का उद्घाटन करता है, जिनके बारे में विज्ञान की वर्तमान पद्धति से सैकड़ों वर्षों में भी नहीं जाना जा सकेगा।

इसके पश्चात् आचार्य श्री ने वेदों को समझने के लिए वैदिक पदों की व्याख्या करने वाले एक अनिवार्य ग्रन्थ महर्षि यास्क विरचित निरुक्त का वैज्ञानिक भाष्य 'वेदार्थ-विज्ञानम्' (लगभग 2000 पृष्ठ) के रूप में

संसार के सामने प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में आचार्य श्री ने सैकड़ों मन्त्रों का भाष्य किया, किसी मन्त्र का एक, किसी का दो, तो किसी का तीन प्रकार का भाष्य किया है। उदाहरणार्थ 'विश्वानि देव...' मन्त्र का 16 प्रकार का भाष्य कर आचार्य श्री ने यह सिद्ध किया है कि किसी भी वेद मन्त्र के अनेक प्रकार के भाष्य सम्भव हैं, जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.10.11 में कहा है—

'अनन्ता वै वेदाः'

अर्थात् वेदों में अनन्त ज्ञान है। ये दोनों ग्रन्थ आर्यसमाज ही नहीं, अपितु सनातन धर्म के गौरव हैं और हमें गर्व है कि हमारे मध्य में आचार्य श्री के रूप में अभी भी ऐसे वैज्ञानिक (वर्तमान की भाषा में) विद्यमान हैं, जो हमें हमारे मूल वेद, ईश्वर, धरती माँ और गौ माता से जोड़ते हैं। यह एक अकाट्य सत्य है कि जो अपने मूल से कट जाता है, वह नष्ट हो जाता है और यही हो भी रहा है। वेद और ईश्वर से दूर जाता यह संसार निरन्तर विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है।

समाधान एक ही है— हमें आचार्य श्री के इस दुष्कर कार्य में अपना अधिक से अधिक सहयोग करना होगा, नहीं तो समय निकलने के पश्चात् हमारे पास पछताने के अलावा कुछ नहीं बचेगा। भारत के डी.आर.डी.ओ., इसरो से लेकर नासा, सर्न तक व नोबेल पुरस्कार विजेता तक कितने ही वैज्ञानिकों ने आचार्य श्री के अनुसंधान कार्य का लोहा माना है अथवा वर्तमान विज्ञान के सिद्धान्तों पर उठाये प्रश्नों से अभिभूत हुए वा निरुत्तर हुए हैं। जिस कार्य में वैज्ञानिकों को अरबों-खरबों डॉलर खर्च करने के बाद भी सफलता नहीं मिली, वह कार्य आचार्य श्री ने अत्यल्प संसाधनों में एक छोटी सी जगह पर रहकर और विपरीत परिस्थितियों में अनेक

प्रकार के विरोधों को सहन करते हुए भी कर दिखाया है। इसके पश्चात् आचार्य श्री की योजना वेदों के ऐसे सूक्तों का भाष्य करने की है, जिनका भाष्य अत्यन्त कठिन है या जिनमें विज्ञान के गम्भीर रहस्य छुपे हुए हैं।

इसलिए हमारा यह कर्त्तव्य बन जाता है कि वैदिक विज्ञान के इस महान् यज्ञ में हम अपनी पवित्र आहुति अवश्य प्रदान करें और परमपिता परमात्मा के आशीर्वाद के पात्र बनें। इसके अतिरिक्त वेद, वैदिक धर्म और राष्ट्र को बचाने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

निवेदक— विशाल आर्य व डॉ. मधुलिका आर्या,
प्राचार्य व उप-प्राचार्या,
आधुनिक एवं वैदिक भौतिकी शोध संस्थान
(श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास द्वारा संचालित)
भीनमाल (राजस्थान) 343029

जय माँ वेद भारती

/vaidicphysics

ऐसे रुकेगा धर्मान्तरण

वेद सम्पूर्ण सृष्टि का ग्रन्थ है। प्रारम्भ से लेकर महाभारत काल पर्यन्त यह सम्पूर्ण मानव जाति का विद्या व धर्म का ग्रन्थ रहा है और सत्य सनातन वैदिक धर्म ही मानव का एकमात्र धर्म रहा है। दुर्भाग्यवश तमोगुण की प्रबलता से महाभारत काल के पश्चात् वेदविद्या का अपेक्षाकृत तीव्रता के साथ लोप होता चला गया। इससे संसार में नाना मत-पन्थों का प्रादुर्भाव हुआ और मानव जाति खण्ड-खण्ड में विभाजित हो गई। इनमें से कुछ मत-पन्थ तो वेद के मिथ्या अर्थ ग्रहण करने के कारण उत्पन्न हुए, जिससे मानव समाज में धर्म के नाम पर नाना पापों की प्रवृत्ति होने लगी, तो कुछ मत-पन्थ इनकी प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुए। दोनों ही प्रकार के मत-पन्थों में जो-जो सत्य व कल्याणकारी बातें हैं, वे वैदिक परम्परा से ही ली गई हैं और जो-जो कल्पित व मिथ्या बातें हैं, वे-वे उन मत-पन्थों के प्रवर्तकों के मस्तिष्क की उपज हैं।

आज अनेक मत-पन्थ वेद के नाम पर नाना पापों व अन्धविश्वासों को ढो रहे हैं, तो प्रतिक्रियावादी वेदविरोधी मत वेद के मिथ्या अर्थों को लक्ष्य बनाकर वेद पर ही आक्रमण कर रहे हैं। ऐसा करके वे वेदविरोधी (ईसाई, मुस्लिम, नव बौद्ध एवं वामपन्थी) वैदिक सनातनधर्मियों की सन्तानों को वेद से विमुख करके न केवल धर्मान्तरित कर रहे हैं, अपितु उन्हें भारतविरोधी भी बना रहे हैं। हमने संसार के सभी वेदविरोधियों को वेदों व आर्ष ग्रन्थों पर आक्षेप करने की खुली चुनौती दी थी, उस पर हमें उनके आक्षेप प्राप्त हुए, परन्तु दुर्भाग्यवश हमें कोई भी आक्षेपकर्त्ता न तो योग्य ही प्रतीत हुआ और न ही ईमानदार सत्यपिपासु। हमने इन आक्षेपों का उत्तर देने के लिए देश के अनेक वैदिक विद्वानों का आह्वान किया, परन्तु सभी मौन साध गए। वेदादि शास्त्रों पर होते प्रहारों को देखकर भी मौन बैठ जाना अपराध है। ध्यान रहे यदि आप वेद के सम्मान को नहीं बचा पाये, तो आपकी पीढ़ी को धर्मान्तरित होने से कोई नहीं रोक सकता।

हमने उन आक्षेपों में से 30 प्रमुख आक्षेपों का संक्षिप्त में उत्तर इस पुस्तक में दिया है। यह पुस्तक प्रत्येक सनातनधर्मी के घर में होनी चाहिए, क्योंकि इस पुस्तक के रहते कोई विधर्मी हमारी आगामी पीढ़ियों को पथभ्रष्ट वा धर्मान्तरित नहीं कर सकता।

— आचार्य अग्निव्रत

thevedscience.com

द वेद साइंस पब्लिकेशन

ISBN 978-81-976604-3-6
9 788197 660436